नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक

बिगुल

मासिक समाचार पत्र • वर्ष 1 अंक 6-7
जून-जुलाई 1999 • तीन रुपये • बारह पृष्ठ

युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का विरोध करो!

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के हुक्मरान बुनियादी समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने के लिए युद्ध और तनाव का माहौल बनाये हुए हैं

विशेष सम्पादकीय

करीब दो माह तक हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच जम्मू-कश्मीर में नियंत्रण रेखा पर चलने वाला युद्ध इन पंक्तियों के लिखे जाने तक समाप्ति की ओर है। इस दौरान दोनों ही देशों में अखबार, पत्रिकाओं, रेडियो-दूरदर्शन द्वारा एक-दूसरे के खिलाफ जबर्दस्त युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का घटाटोप फैलाया गया। आने वाले दिनों में भी सीमा पर तनाव बना रहेगा और अरबों-खरबों के भारी खर्चे से युद्ध की तैयारियां जारी रहेंगी। इस युद्ध का और लगातार बढ़ते फौजी खर्चों का बोझ आने वाले दिनों में कमरतोड़ महंगाई के रूप में दोनों देशों की जनता चुकाती रहेगी और उन्हें सरकारें यह बताने की कोशिश करती रहेंगी कि उनकी समस्याओं का मूल कारण साम्राज्यवाद और पूंजीवाद नहीं, बल्कि पड़ोसी "दुश्मन देश" की कार्रवाइयां हैं।

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के किसानों-मजदूरों और आम जनता की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है। दोनों देशों की जनता अपने-अपने देशों के शासक पूंजीपतियों की लूट का शिकार हैं। साम्राज्यवाद दोनों देशों की जनता का मुश्तरका दुश्मन है। दोनों देशों में पूंजीवादी व्यवस्था का संकट लाइलाज बीमारी बन चुका है, जिसकी कीमत जनता कमरतोड़ महंगाई और लगातार बढ़ती बेरोजगारी के रूप में चुका रही है। भूमण्डलीकरण के दौर की आर्थिक नीतियों के विनाशकारी नतीजे दोनों देशों में एकदम साफ हो चुके हैं, और आने वाले दिनों में आम जनता के आक्रोश-असंतोष के प्रचण्ड विस्फोट की आशंकाओं से दोनों ही देशों के हुक्मरानों की नींद हराम है।

इस स्थिति से जनता का ध्यान भटकाने के लिए युद्ध छेड़ देना ही हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के शासकों के लिए रामबाण नुस्खा था और इसी पुराने नुस्खे को एकबार फिर कारगिल-द्रास-बटालिक क्षेत्र में आजमाने का काम किया गया है। इसके लिए दोनों ही देशों में बड़े ही संगठित ढंग से युद्ध के पक्ष में जनमत तैयार करने का काम जारी था और आज भी जारी है ताकि तनाव लगातार मौजूद रहे और अंधराष्ट्रवादी बुखार में अपनी असली लड़ाई से जनता का ध्यान हटा रहे।

विगत युद्ध के बुनियादी और फौरी कारण

गौरतलब बात यह भी है कि सीमा पर मौजूद तनाव का युद्ध के रूप में विस्फोट ऐन उस समय हुआ जबकि पत्रकार नजम सेठी की गिरफ्तारी और आसिफ जरदारी पर जेल में अत्याचार के मसले पर पाकिस्तान में विपक्षी बुर्जुआ पार्टियां नवाज शरीफ सरकार को घेरे हुए थीं। कठमुल्लावादी धार्मिक ताकतें भी नवाज शरीफ के ऊपर लगातार दबाव बनाकर 'मियां की जूती मियां के सिर' के कहावत को चरितार्थ कर रही थीं। सेना के नौकरवाहों की लॉबी ने भी अपना दबाव बढ़ा दिया था। व्यवस्था के गहराते संकट ने शासक वर्गों के आपसी अन्तर्विरोधों को तीखा बना दिया था। उधर महंगाई, बेरोजगारी और छंटनी-तालाबंदी आदि को लेकर तथा जनवादी अधिकारों को लेकर पूरे देश में आंदोलनों-प्रदर्शनों का सिलसिला जारी था। सिन्ध में तथा अन्य राज्यों में राष्ट्रीयताओं के संघर्ष गृहयुद्ध जैसी स्थिति पैदा कर चुके थे। पाक-अधिकृत कश्मीर में भी जनता में व्यापक असंतोष था। इन्हीं हालात से उबरने के लिए एक बार फिर कश्मीर के मुद्दे को उभाड़ना और नियंत्रण रेखा के पार घुसपैठिये भेजकर युद्ध को आमंत्रण देना नवाज शरीफ

(पेज 4 पर जारी)

कुछ सवाल

- ⇨ "देशभक्ति" के नाम पर युद्धपिपासु अंधराष्ट्रवाद किसके हित में?
- ⇨ खरबों का युद्ध का खर्च किसके मत्थे?
- ⇨ दुश्मनी दोनों देशों के शासक वर्गों के बीच है, मेहनतकश जनता के बीच नहीं। पर युद्ध की कीमत जनता ही चुकाती है। ऐसा क्यों?
- ⇨ क्या सीमा पर युद्ध दोनो देशों की जनता का ध्यान बुनियादी समस्याओं से भटकाने की एक शासकवर्गीय चाल नहीं है?

नकली वामपंथियों की चुनावी राजनीति बनाम सर्वहारा क्रान्ति की राजनीति

सम्पादकीय डेस्क से

अप्रैल के महीने में तीन हफ्ते तक संसद के भीतर जो ड्रामेबाजी चली और लोकसभा भंग किये जाने तथा मध्यावधि चुनाव की घोषणा के बाद, संसद के बाहर तमाम चुनावी पार्टियों के बीच नाटकीय जोड़तोड़, तीन-तिकड़म, पालाबदल, पैंतरापलट आदि का जो खेल चल रहा है, उसमें चुनावी वामपंथी पार्टियों की भूमिका सबसे दिलचस्प दीख रही है।

पिछले तीन-चार महीनों की सरगर्मियों के दौरान अधिकांश छोटी-बड़ी पूंजीवादी पार्टियां अपने पार्टीगत हितों-स्वार्थों के लिए चरम सीमा तक खींचतान मचाये रहीं। भाजपा नेतृत्व गठबंधन के सहयोगियों की तगड़ी मोलतोल का सामना करता रहा। सरकार के पतन के बाद भी यह स्थिति बनी रही और फिर यदि फिर गठबंधन बना तो केवल विकल्पहीनता और अस्तित्व के संकट के चलते। कांग्रेस के भीतर भी सोनिया समर्थक और विरोधी गुट अपने निहित स्वार्थों को लेकर टकराये और टूटे। तथाकथित तीसरी ताकत के घटक राजद, जद, सपा आदि भी अपने-अपने दलीय स्वार्थों को ध्यान में रखकर समीकरण बनाते और तोड़ते रहे।

इस पूरी प्रक्रिया में सिर्फ अपने को सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि कहने वाले माकपा और भाकपा के नेता ही पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था के संकट को लेकर सबसे अधिक चिन्ताएं प्रकट करते रहे तथा देश को अराजकता से बचाने की और सॉवधान एवं संसदीय परम्पराओं की "गरिमा" को बचाने की अपीलें करते रहे। इन संसदीय वामपंथियों की इस वफादारी के लिए बड़े पूंजीपतियों और उनके संगठनों ने भी उनकी तहेदिल से तारीफ की। पूंजीपति अस्थिरता

(पेज 11 पर जारी)

कुछ जरूरी नतीजे कुछ कीमती सबक

(बिगुल प्रतिनिधि द्वारा)

रुद्रपुर (ऊधमसिंह नगर)। 'आनन्द निशिकावा लि.' (ए.एल.पी.) कारखाने का लगभग सवा तीन माह तक चलाने वाला मजदूर आन्दोलन आखिरकार एक समझौते के बाद विगत 10 जून को समाप्त हो गया।

इस आंदोलन को पूरे तराई क्षेत्र के मजदूर आंदोलन के हालात के साथ जोड़कर देखने की और आगे के लिए जरूरी सबक निकालने की जरूरत है। पर इसके लिए सबसे पहले बेलागलपेट यह स्वीकार करने की जरूरत है कि इस समझौते में मालिकान का पक्ष हावी रहा है और कुल मिलाकर यह ए.एल.पी. के जुझारू मजदूरों की हार ही है। पर, जीत से सीखने से भी अधिक जरूरी होता है हार से सीखना, ताकि भविष्य में जीत हासिल की जा सके। अलग-अलग कारखानों के संघर्षों में हारने और जीतने वाले मजदूरों के लिए यह जरूरी है कि वे अपने संघर्षों से जरूरी सबक निकालें ताकि पूरे मजदूर वर्ग की लड़ाई को और समूची जनता की लड़ाई को मुश्तरका दुश्मन के खिलाफ आगे बढ़ाया जा सके।

सबसे पहले इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रबंधकों द्वारा फर्जी मुकदमों में फंसाने जैसी तमाम साजिशाना कार्रवाइयों और पुलिस के बर्बर दमन के बावजूद मजदूरों की एकजुटता जबर्दस्त रूप में अंत तक बनी रही, और नेतृत्व के एक हिस्से के बीच में दुलमुलपन और हिचकिचाहट दिखाने के बावजूद लम्बे समय तक मजदूर पीछे हटने को तैयार नहीं हुए। लम्बे आंदोलन, प्रशासन और मालिकों की दमनकारी एकजुटता तथा एक परिपक्व राजनीतिक नेतृत्व और दिशा के अभाव के कारण धीरे-धीरे स्थितियां ऐसी बनीं कि आंदोलन के नेतृत्व को एक कमजोर स्थिति में खड़े होकर समझौता करना पड़ा।

ऊधमसिंहनगर के उपजिलाधिकारी

आनन्द निशिकावा कारखाने का मजदूर आंदोलन

और सहायक श्रमायुक्त की मौजूदगी में संपन्न हुए त्रिपक्षीय समझौते के तहत यह तय हुआ कि पहले निलंबित तीन मजदूरों की पूरी जांच के बाद ही काम पर वापस लिया जायेगा। इसके बाद निलंबित नौ श्रमिकों के विरुद्ध जांच कार्य बीस दिनों में पूरा किया जाएगा। इसके अतिरिक्त निलंबित 18 श्रमिकों की जांच कार्रवाई प्रबंधकों द्वारा दो दिनों के भीतर पूरी कर ली जाएगी। समझौते में श्रमिकों के खिलाफ दर्ज 307 के मुकदमें को आपसी सहमति से निपटाने की बात कही गयी है। श्रमिक प्रतिनिधियों को यह भी आश्वासन देना पड़ा है कि वे भविष्य में कंपनी के प्रमाणित स्थायी आदेशों का पालन करेंगे और औद्योगिक शांति बनाए रखेंगे।

संघर्ष की पृष्ठभूमि : दमन झेलकर भी मजदूरों ने निभाई संग्रामी एकजुटता

'आनन्द निशिकावा लि.' के मजदूरों का यह आंदोलन किसी आर्थिक मांग के लिए नहीं शुरू हुआ था। कारखाने के मजदूर, आंदोलन के लिए तब बाध्य हुए जब प्रबंधक वर्ग द्वारा कुत्सित साजिश के तहत किए गए शिफ्ट परिवर्तन पर वार्ता करने गये यूनियन के महामंत्री सहित तीन श्रमिक प्रतिनिधियों को निलंबित कर दिया गया और इसका शांतिपूर्वक विरोध कर रहे मजदूरों को पुलिस के दम पर कारखाने से बाहर खदेड़ दिया गया। हालांकि मजदूर साथी मौके की नजाकत को देखते हुए सीधे हड़ताल पर जाने की जगह, कारखाने के भीतर रहकर ही आंदोलन को धीमे-धीमे गति प्रदान करते और व्यापक जनसमर्थन जुटाते तथा इलाकाई पैमाने पर फौलादी मजदूर एकजुटता कायम करते हुए आम हड़ताल तक पहुंचते तो स्थिति इससे बेहतर होती।

आंदोलन के शुरुआती दौर से ही प्रबंधकों द्वारा मजदूरों को भ्रमित करने के लिए पर्चे बंटवाए गये, अखबारों में इश्तेहार छपवाए गये। धरना स्थल पर जासूसी

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

आक्रमण का निशाना ए.आई.आई.ई.ए. की जगह सरकार को बनाए

यदि 'आल इण्डिया इंश्योरेंस इम्प्लाइज एसो.' (ए आई आई ई ए) बीमा क्षेत्र के निजीकरण का विरोध न करती तो तमाम तथाकथित क्रान्तिकारियों को पता भी न चलता कि बीमा क्षेत्र का निजीकरण कब हो गया। इसलिए, बीमा कर्मचारियों के नेतृत्व को दोष देना सर्वथा गलत है। बेहतर है यदि ट्रेड यूनियनों की बात-बात में आलोचना करने वाले संगठन तहे दिल से ट्रेड यूनियनों के सही कदमों को मजबूती दें। यदि देशभक्त ताकतें, एक दूसरे की खींचने में ही लगी रहीं तो सफलता कभी नहीं मिल सकती। समय-समय पर बीमा क्षेत्र के बारे में जो तथ्य आपने अपने लेखों में छापे हैं, वे भी आल इंडिया इंश्योरेंस एम्प्लाइज एसो. द्वारा इस उपलब्ध कराये गये हैं। ए.आई. आई.ई.ए. के नेतृत्व में बीमा कर्मचारी पिछले 8 वर्षों से निजीकरण के विरुद्ध आन्दोलनरत हैं। शायद 'बिगुल' को भी इसके दुष्परिणामों की जानकारी मिलगयीहै।

श्री ललित सती जी की जानकारी काबिले तारीफ है, लेकिन वे अपने आक्रमण का निशाना ए.आई.आई.ई.ए. की बजाय सरकार को बनायें तो ज्यादा बेहतर होगा। धन्यवाद।

-जय प्रकाश आर्य
काठगोदाम, नैनीताल

हमें रस्मी नहीं, वास्तविक विरोध करना होगा !

-प्रिय बन्धु, सबसे पहले हम यह साफ कर दें कि 'बिगुल' या इससे जुड़ी टीम ने कभी भी 'आल इंडिया इश्योरेंस इम्प्लाइज एसोसियेशन' को हमले का निशाना नहीं बनाया बल्कि हमारा अथवा ललित सती का कहना है कि "हम अपनी यूनियन को तहेदिल से एक सच्ची क्रान्तिकारी धार देना चाहते हैं और भारतीय मजदूर आन्दोलन के नये पुनर्जागरण से इसे जोड़ देना चाहते हैं।" बल्कि हमारे सामने सीधा प्रश्न यह है कि गत आठ वर्षों के दौरान छिटपुट हड़तालों, एक भारत बंद, कुछ संसद के घेराव, कुछ हस्ताक्षर अभियान आदि कहाँ विरोध की रस्म अदायगी मात्र तो नहीं?

और इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि इसके लिए सिर्फ और सिर्फ परे ट्रेड यूनियन आन्दोलन का मौजूदा नेतृत्व दोषी है जो खुद इस या उस संसदीय पूंजीवादी, सुधारवादी या कथित वामपंथी पार्टी के साथ नत्थी है। इस नेतृत्व ने मजदूरों– कर्मचारियों की संगठित शक्ति को खंड-खंड में विभाजित कर दिया है और अलग– अलग यूनियनों में बंटे मजदूरों– कर्मचारियों को भी अपना बंधुआ बना रखा है। ट्रेड यूनियनों का यह मौजूदा नेतृत्व जनवादी तौर तरीकों को छोड़कर खुद ही नौकरशाह बन बैठा है और अपनी इस स्थिति को बरकरार रखने के लिए उसने आम यूनियन सदस्यों को लगातार पिछलग्गू बनाया तथा उनकी राजनीतिक चेतना और पहलकदमी को लगातार कुन्द किया।

इसलिए हमारा सवाल तो कथित विरोध करने वालों पर है– उस अवसरवादी नेतृत्व पर है जो सब कुछ समझ कर भी अन्जान बने हुए हैं, जिनके लिए 'मजदूर एकता' और 'इंकलाब जिन्दाबाद' के नारे रस्मी बन कर रह गये हैं, जो नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के दौर से ही यह समझ रहे थे कि वित्तीय क्षेत्र में आगे बढ़े बगैर (यानी बैंक व बीमा सेक्टर के निजीकरण के बगैर), वर्तमान दौर की लूटेरी विश्व आर्थिक व्यवस्था लागू ही नहीं हो सकती फिर भी लम्बे संघर्षों से बचते रहे।

हमारे आक्रमण का मुख्य निशाना तो वर्तमान दौर में लागू हो रही उदारीकरण-निजीकरण की उन नीतियों पर है जिनके परिणाम स्वरूप बीमा क्षेत्र को देशी-विदेशी लुटेरी कम्पनियों के लिए खोला जा रहा है। साथ ही, यूनियन के उस नेतृत्व पर भी है जो राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई भूल चुके हैं और पूंजीवाद की चौहदवी को अन्तिम तौर पर स्वीकार कर सिर्फ भौतिक ही नहीं बल्कि आत्मिक रूप से भी पराजित हो चुके हैं।

ए.आई.आई.ई.ए. से तो लाखो बीमा कर्मी जुड़े हुए हैं, उनकी एकता को बहाली और ट्रेड यूनियन आंदोलन के क्रांतिकारीकरण के प्रयास में हम पूरे शिद्दत से जुटे हैं। साथ ही हम यह भी बताना चाहेंगे कि बीमा पर अपनी चिन्ताओं और सरोकारों के साथ लेख लिखने वाले साथी ललित सती बीमा आन्दोलन और ए.आई.आई.ई.ए. से पूरे कर्मठता और सक्रियता से जुड़े हुए हैं।

दूसरी बात, हम यह कहना चाहेंगे कि बीमा क्षेत्र के निजीकरण के तथ्य कोई गुप्त बात नहीं हैं। तमाम बुद्धिजीवी और बुर्जुआ पत्र तक इस पर लिखते और तथ्य उजागर करते रहे हैं। निजीकरण– उदारीकरण का विरोध करने वाले तमाम पत्रों मेंलम्बे समय से लेख-टिप्पणियां लिखी जाती रही हैं और इसका विरोध होता रहा है। बीमा यूनियन ने भी इन तथ्यों को उजागर किया लेकिन उन्होंने कभी भी इसे पूरी जनता के मुक्ति के प्रश्न से जोड़कर नहीं देखा।

हमारा इस बात पर स्पष्ट मत रहा है कि हमें सिर्फ बीमा क्षेत्र को विदेशी कंपनियों के लिए खोले जाने का ही नहीं, बल्कि निजीकरण– उदारीकरण की पूरी नीति का विरोध करना होगा। इसके विरुद्ध संघर्ष महज एक आर्थिक संघर्ष नहीं, बल्कि यह आज के साम्राज्यवाद और उसके जूनियर पार्टनर देशी पूंजीवाद के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष की एक बुनियादी कड़ी है, यह आर्थिक नवउपनिवेशवाद के विरुद्ध युद्धघोष है और इसे इसी रूप में लेना होगा। इसके लिए मजदूर आंदोलन को उन तमाम पूंजीवादी, सामाजिक जनवादी और चुनावी वामपंथी पार्टियों की गिरफ्त से आजाद कराना होगा जो नई आर्थिक नीतियों को दिल से स्वीकार करते हैं, सत्तासीन होने पर लागू करते हैं, पर उनसे जुड़े ट्रेड यूनियन नेतृत्व के लोग इनके विरोध का जुबानी जमा खर्च भी करते रहते हैं।

उम्मीद है हमारी चिन्ताओं-सरोकारों को आप भी समझ पाएंगे और तमाम संकीर्णताओं से मुक्त होंगे!

-सम्पादक

बीमा क्षेत्र को तबाही से कैसे बचायें

'बिगुल' के पिछले दो अंकों में बीमा क्षेत्र के निजीकरण पर छपे लेखों से संघर्षों की एक सही वैचारिक दिशा प्राप्त हुई। वर्तमान में राष्ट्रीकृत बीमा उद्योग में तमाम ट्रेड-यूनियनें हैं, किन्तु यहां पर सबसे बड़ी ट्रेड यूनियन ए.आई.आई.इ.ए. (अखिल भारतीय बीमा कर्मचारी संघ) है। तमाम बीमा-कर्मियों की तरह अपने मन में उठ रहे कुछ सवालों को बिगुल के माध्यम से अपने अन्य साथियों तक पहुंचाना चाहूंगा :

– दिसम्बर, '96 से दिसम्बर '98 तक कोई हड़ताल नहीं की गई जबकि बीमा उद्योग के निजीकरण की प्रक्रिया थमी नहीं थी, यह जारी थी। क्या यह **'संसद में बैठे अपने वामपंथी मित्रों'** (जैसा कि ए.आई. आई.इ.ए. लीडरान मानते हैं) के इशारे पर संघर्षों को रोकना तो नहीं था।

– 13 दिसम्बर, '97 को संयुक्त मोर्चा सरकार (जिसमें हमारे 'वामपंथी मित्र' या तो सरकार में शामिल थे या सरकार में न शामिल होते हुए भी सरदार बने बैठे थे) के वित्तमंत्री ने विश्व व्यापार संगठन (W.T.O) के साथ यह राष्ट्रघाती समझौता कर लिया कि हम बीमा क्षेत्र को देशी-विदेशी मुनाफाखोरों के लिए खोल देंगे।

राष्ट्रीयकृत बीमा उद्योग को सजा-ए-मौत का फरमान जारी हो गया। जाहिरा तौर पर भारतीय संसद देर-सबेर इस हुक्म को तामील करेगी और यह बात यदि बीमाकर्मियों के नेता नहीं समझ पाये (हालांकि यह गले नहीं उतरता) तो बेहद खतरनाक है और यदि समझ-बूझ कर उन्होंने इसके विरोध को मुकम्मल रणनीति नहीं बनाई तो क्या यह साफ गद्दारी नहीं है।

– दुनिया में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ बताने वाली, 'अहं एको द्वितीयो नास्ति' का राग अलापने वाली ट्रेड यूनियनें यह नहीं बताती कि वे किस तरह से 'ग्लोबलाइजेशन' के इस दौर में सिर्फ सार्वजनिक बीमा क्षेत्र को तबाह होने से बचा लेंगी।

– एक बीमाकर्मी
भारतीय जीवन बीमा निगम, हल्द्वानी

जनता को बरगलाते हैं

हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई आपस में हैं
भाई-भाई
जनता को धर्म का वास्ता देकर बरगलाते हैं
गिलसरीन आंसू बहाकर अपने को
सच्चा देशभक्त बतलाते हैं,
और तो और खादी का कुर्ता
पहन गांधी कट की टोपी लगाते हैं
जनता में खुद को गांधीवादी बताते हैं
और सर्वधर्म समभाव के नारे लगाते हैं।
धर्म का वास्ता देकर जनता में
साम्प्रदायिकता की आग को हवा लगाते हैं
खुद को देशभक्त बतलाते हैं।
भोली हिन्दुस्तान की जनता बहकावे में
आकर
नेताओं को बहुमत देकर खुद अपना गला
दबाती है
मरती है निर्दोष यही, वो घर में मौज उड़ाते
हैं।
इंसानियत का करके खून....
मैदान में आ जाते हैं, स्वधर्मियों में जाते हैं
तो
धर्म का नेता बताते हैं
दूसरों में जाते हैं तो खुद को देशभक्त
बतलाते हैं
हिन्दू-मुस्लिम-सिख-इसाई
आपस में हैं भाई-भाई के नारे लगाते हैं
धर्म का दे वास्ता जनता को बरगलाते हैं।

–रामपाल सिंह
जीवन बीमा निगम, रुद्रपुर (ऊधम सिंह नगर)

बेरोजगारी नहीं दूर करना चाहती है– व्यवस्था!

भाजपा गठबंधन ने सत्तारूढ़ होते समय अपने राष्ट्रीय एजेण्डा में एक करोड़ काम के अवसर पैदा करने की घोषणा की थी लेकिन यह महज खोखली घोषणा ही साबित हो रही है। सरकार स्वयं इस पर कुछ भी नहीं कर रही। सभी सरकारी विभाग मनमाने तौर पर 'मैन– पावर प्लानिंग' कर रहे हैं। इसका सबसे ताजा तरीन उदाहरण रेलवे के आकस्मिक श्रमिकों (कैजुवल लेबर) हैं जहां 'मल्टी– स्किलिंग' की नीति चुपचाप लागू कर दी गई है।

इसी नीति के तहत, आकस्मिक श्रमिकों की जीवित पंजिका एवं पूरक जीवित पंजिका से आकस्मिक श्रमिकों के नाम हटाने के संदर्भ में निम्न आदेश जारी किये गये हैं–

(क) जिनका कार्य दिवस 120 दिन से कम है।

(ख) जो (श्रमिक सामान्य) 40 वर्ष से ऊपर है व आरक्षित कोटि के 45 वर्ष से अधिक आयु के हैं उनको हटा दिया जाय।

(ग) जो श्रमिक कक्षा 8 पास नहीं हैं।

(घ) जो श्रमिक 1.1.81 के बाद बिना महाप्रबंधक महोदय के अनुमोदन के लगाये गये थे और लगातार कार्य नहीं कर रहे हैं उनका नाम हटा दिया जाय।

इस आदेश के बाद आकस्मिक श्रमिक के रूप में कार्य कर रहे मजदूरों की अच्छी खासी तदाद यूं ही हट जायेगी। यहां यह बता देना आवश्यक है कि सन् 1980 से ही आकस्मिक श्रमिक भारी पैमाने पर आमान– परिवर्तन के काम में लगे रहे हैं और अपने नियमितीकरण के लिए संघर्ष कर रहे हैं। विगत वर्षों में कुछ श्रमिकों का नियमितीकरण किया गया है लेकिन आकस्मिक कर्मचारी बताते हैं कि इसमें बहुत लोग ऐसे हैं जो कभी आकस्मिक श्रमिक रहे ही नहीं हैं।

अब इस नये आदेश के जरिये भी आकस्मिक श्रमिकों की छंटनी की जा रही है।

जब सरकारी विभाग पहले से ही काम कर रहे मजदूरों को छांट रहे हैं तो खुद ही समझा जा सकता है कि नये रोजगार कहां से पैदा होंगे। ऐसे में एक करोड़ काम के अवसर पैदा करने की घोषणा, महज खोखली घोषणा ही साबित हो रही है।

रंजीत सिंह, समस्तीपुर!

मजदूरी के लिए संघर्ष हो

हमने बिगुल सितम्बर का अंक पढ़ा। इससे बहुत प्रेरणा मिली क्योंकि आप बिगुल में मजदूरों पर होने वाले जुल्म, अत्याचार एवं पूंजीवादी शोषण पर खुलेतौर पर लिखते हैं। लेखों से पता चलता है कि वे हमारा खून कैसे चूसकर अपनी तिजोरियां भरते हैं। आपने लिखा है कि इन लोगों ने मजदूरों को बहुत छोटे-छोटे हिस्सों में बांट रखा है एवं अपने फायदों के लिए हमें आपस में लड़ाते रहते हैं।

हमारा भी यह मानना है कि यदि मजदूर वर्ग गुलामी से छुटकारा पाना चाहे तो इसको यूनियन बनानी होगी और फिर इस पूंजीवाद साम्राज्यवाद के खिलाफ आवाज बुलन्द करनी होगी। पूरी दुनिया के मजदूरों को इन पूंजीपतियों के विरुद्ध लड़ाई लड़नी होगी।

हमारे यहां मजदूरी केवल 50 रुपये वह भी समय से नहीं मिलती है। इस पर बिगुल में भी रिपोर्ट प्रकाशित करें जिससे हम मजदूरों के लिए संघर्षरत हो सकें।

वेदपाल सिंह, बुलन्द शहर

बिगुल का स्वरूप, उद्देश्य और जिम्मेदारियां

1. 'बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मजदूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मजदूर आंदोलन के इतिहास और सबक से मजदूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूंजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मजदूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों का नियमित रूप से छापेगा और स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मजदूरों को राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के बीच लगातार राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भुजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूंजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनबाजों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'बिगुल' मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

बिगुल यहां से प्राप्त करें

♦ शहीद पुस्तकालय, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मयाँदापुर**, मऊ ♦ मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), मऊनाथभंजन, **मऊ**
♦ जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर**
♦ बिजय इन्फारमेशन सेन्टर, कचहरी बस स्टेशन, **गोरखपुर** ♦ विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, गोरखपुर
♦ ओमप्रकाश, बाबा का पुरवा (पुराना), पंपर मिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ**
♦ जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, **लखनऊ**, (शाम 5 से 7)
♦ राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ**
♦ विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरी काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ**
♦ देवेन्द्र प्रताप, द्वारा श्री इन्द्र सिंह रावत, आल्मा काटेज, 7, मल्लीताल, **नैनीताल**
♦ ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर** (ऊधमसिंहनगर)
♦ प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, लंका **वाराणसी**
♦ राजीव वर्मा द्वारा डा. जे.पी. वर्मा, बी. पी. 82, पटेलनगर, **मुगलसराय**, वाराणसी
♦ राजेन्द्र प्रसाद, रेनु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, **रेणुकूट**, सोनभद्र ♦ सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, **नई दिल्ली**
♦ पुस्तक मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव स्टोर, दिल्ली विश्वविद्यालय, **दिल्ली**
♦ एस.के.शर्मा, 282 बी, रेलवे कालोनी, **गढ़हरा**, बेगूसराय ♦ सुनील कुमार सिंह, सेक्टर-12 बी, 3159, बोकारो इस्पातनगर, **बोकारो**
♦ गणपतलाल, ग्राम काजी रसूलपुर, पो. तेघड़ा, **बेगूसराय** ♦ विकल्प सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिल्वर ओक अपार्टमेंट, नेपियर रोड, **जबलपुर**
♦ पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** ♦ समकालीन प्रकाशन (प्रा.)लि. पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना**
♦ संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दर वास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**
♦ बुक मार्ग, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** ♦ शर्मा बुक स्टाल धाना रोड,चाली, **तिनसुकिया**
♦ नरभिण्डर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा/पो. **सनतनगर**, जिला-सिरसा
♦ राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मंदिर, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, **दार्जलिंग**

नेपाल ♦ पुस्तक पत्र-पत्रिका बिक्री-वितरण केन्द्र दिल्ली बाजार ओकाला, **काठमांडू**
♦ विशाल पुस्तक सदन, बिबूआर बाजार, **प्युठान**, राप्ती अंचल ♦ विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल**, लुम्बिनी ♦ विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्वनपथ, पुटवल, रुपनदेई

विमान सेवाओं के लिए बुनियादी काम करने वाले एयरपोर्ट मजदूर बुनियादी जरूरतों से भी वंचित हैं

देश की नागरिक विमान सेवाओं को संचालित करने के लिए हवाई अड्डों पर बुनियादी काम करने वाले हजारों एअरपोर्ट मजदूर जीवन की बुनियादी जरूरतों से भी वंचित है। देश के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को सुखद हवाई सफर की गारण्टी करने वाले इन कामगारों की अपनी जिन्दगी एक दुखद पीड़ादायी सफर है।

राजधानी दिल्ली में कार्यरत 'वर्कर्स सॉलिडेरिटी' नामक मजदूरों के एक संगठन ने विगत मार्च 1999 में 'एयरपोर्ट वर्कर्स: दि ग्राउण्ड रियालिटी' शीर्षक से इन कामगारों की जिन्दगी के बारे में एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार की है। इस रिपोर्ट में आम तौर पर पूरे देश में हवाई अड्डों पर सर्वाधिक बुनियादी काम करने वाले मजदूरों और विशेष रूप से दिल्ली स्थित तीन हवाई अड्डों के मजदूरों के रसातल में डूबे जीवन को उजागर किया गया है। रिपोर्ट इस सच्चाई का एक जीवन्त प्रमाण है कि पूंजीवाद के रहते मेहनतकश वर्ग की पीड़ाओं का कोई अन्त नहीं है। 'बिगुल' के पाठकों के लिए तैयार की गयी यह संक्षिप्त रिपोर्ट उपयुक्त विस्तृत रिपोर्ट पर आधारित है।

आज भी ठेकेदारी प्रथा का बोलबाला है यहां:

देश भर में नागरिक हवाई अड्डों का संचालन भारतीय विमानपत्तन प्राधिकरण द्वारा किया जाता है जो भारत सरकार के नागरिक उड्यन मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्तशासी निकाय है। देश भर में हवाई अड्डों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न किस्म के कामों में लगभग हजारों मजदूर प्राधिकरण के अन्तर्गत कार्यरत हैं। लेकिन इनमें से लगभग बारह हजार मजदूर ठेकेदारी प्रथा के अन्तर्गत काम करने को मजबूर हैं जो मजदूरों की कुल संख्या के साठ प्रतिशत से भी अधिक हैं। ये ठेका मजदूर लगभग पच्चीस विभिन्न श्रेणियों के कामों में लगे हैं। इनमें मालवाहक जहाजों पर माल चढ़ाने– उतारने वाले (लोडर्स), यात्रियों के सामानों को ट्रॉलियों से ढोने वाले, कन्वेयर बेल्ट ऑपरेटर्स, चिड़ियों को उड़ाने वाले (बर्ड चेप्पर्स), मेण्टेनेंस स्टाफ, लिफ्टमेन, कूड़ा उठाने वाले, ड्राइवर, सुपरवाइजर, फोर्क ड्राइवर, ट्रैक्टर ड्राइवर, कार पार्किंग की देखभाल करने वाले, सफाई कर्मचारी, कम्प्यूटर ऑपरेटर्स इत्यादि प्रमुख हैं। सिर्फ दिल्ली के तीन हवाई अड्डों—इन्दिरा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हवाई अड्डा, पालम और सफदरजंग हवाई अड्डों पर ही लगभग 3500 ठेका मजदूर कार्यरत हैं।

दिल्ली के इन तीन हवाई अड्डों पर कार्यरत कुल 3500 ठेका मजदूरों में लगभग 80 प्रतिशत मुख्यतः इन चार-पांच श्रेणियों के कामों में लगे हैं— ट्राली मजदूर, लोडर, सफाई कर्मचारी, सुरक्षा गार्ड और मेण्टेनेंस स्टाफ। इसके अतिरिक्त अन्य श्रेणियों में कार्यरत ठेका मजदूरों की संख्या 600-700 है। ये ठेका मजदूर या तो ट्रान्सलाइट डिस्प्ले इंटरनेशनल जैसी बड़ी ठेका कम्पनियों के मातहत काम करते हैं या व्यक्तिगत ठेकेदारों के मातहत, जिन्हें प्राधिकरण ठेके मुकर्रर करता है। व्यक्तिगत ठेकेदारों में से अधिकांश प्राधिकरण के अवकाश प्राप्त कर्मचारी हैं। ये ठेका कम्पनियां और व्यक्तिगत ठेकेदार प्राधिकरण के अधिकारियों से मिलीभगत कर, उन्हें भारी घूस खिलाकर बरसों से इन ठेका मजदूरों का खून चूसकर मालामाल हो रहे हैं। साथ ही, वे प्राधिकरण को भी बेशुमार मुनफा दे रहे हैं।

एक मोटे अनुमान के अनुसार किसी भी श्रेणी में कार्यरत स्थायी मजदूर एक ठेका मजदूर की तुलना में प्रति माह लगभग रु. 5000 अधिक प्राप्त करता है। इस आधार पर यदि गणना की जाये तो कुल 12000 ठेका मजदूरों से भारतीय हवाई अड्डा प्राधिकरण प्रति वर्ष 72 करोड़ रुपये का अतिरिक्त मुनाफा बटोरता है। यह धनराशि 1997-98 में प्राधिकरण के कुल मुनाफे रु. 316 करोड़ के एक चौथाई से थोड़ा ही कम है।

अमानवीय कार्यदशाएं और शोषण की अन्तहीन दास्तान

अलग– अलग श्रेणियों के कामों के स्वरूप और अलग– अलग ठेकेदारों के अन्तर्गत कार्यदशाओं की थोड़ी– बहुत भिन्नताओं के अतिरिक्त सभी ठेका मजदूरों के कार्यों की आम दशाएं एक जैसी हैं। जिस श्रेणी के मजदूर लम्बे प्रयासों के बाद एक हद तक संगठित होने और यूनियन बनाने में सफल हुए हैं वे एक हद तक कुछ बेहतर स्थितियों में हैं। लेकिन अधिकांशत ठेकेदार प्राधिकरण के अधिकारियों को मोटी रकमें खिलाकर ठेका श्रम (विनिमय एवं उन्मूलन) अधिनियम, 1970 की धज्जी उड़ाते हुए मजदूरों का अमानवीय शोषण– उत्पीड़न करते हैं।

अधिकांश मजदूर पांच वर्ष या उससे भी अधिक समय से बिना किसी कार्यभंग के ठेके पर काम कर रहे हैं। उन्हें कोई साप्ताहिक अवकाश नहीं मिलता। साल भर में सिर्फ तीन छुट्टियां—26 जनवरी, 15 अगस्त और 2 अक्टूबर को मिलती हैं। इन तीन दिनों के अलावा यदि कोई मजदूर किसी आकस्मिक जरूरत से कोई छुट्टी लेता है तो उसकी मजदूरी से कटौती कर ली जाती है। हालांकि, मजदूरों को दिल्ली सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी रु. 74.50 की दर से मजदूरी का भुगतान करने का कागजी चलन है, लेकिन तमाम कटौतियों के कारण किसी भी महीने में रु. 1600 से अधिक मजदूरी नहीं मिल पाती। यह अधिकतम सीमा है जो उन श्रेणियों के मजदूरों को मिलती है जिनमें मजदूर एक हद तक संगठित हैं। लेकिन जहां वे संगठित नहीं हैं, ठेकेदार तरह-तरह के बहानों से मजदूरी हड़पते रहते हैं, इस लिए अधिकांश श्रेणियों के मजदूरों की रु. 1250-1300 के लगभग ही महीने की मजदूरी बन पाती है। किसी-किसी श्रेणी में तो रु. 800-1000 से अधिक मजदूरी नहीं मिल पाती, खासकर उस श्रेणी में जहां मजदूर विभिन्न कार्यस्थलों में इस तरह बिखरे हुए हैं कि उनका संगठित होना बेहद कठिन है।

मजदूरों को लम्बे संघर्षों के बाद भविष्यनिधि की सुविधा हासिल हुई, लेकिन यह सुविधा भी उल्टे उनके अतिरिक्त शोषण का जरिया बन गयी। विगत अगस्त '97 से उनके भविष्य निधि के खाते में 12 प्रतिशत की दर से कटौती की जा रही है, लेकिन मजदूरों के पास इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। ठेकेदार भविष्यनिधि में कटौती की रकम सम्बंधित अधिकारियों के पास जमा भी कर रहे हैं या नहीं, इसके बारे में ठोस रूप से कुछ कहना मुश्किल है।

मजदूर अधिकांशतः सुबह 6.00 बजे से दोपहर दो बजे तक, दो बजे दोपहर से रात दस बजे तक और रात दस बजे से सुबह छह बजे तक तीन शिफ्टों में काम करते हैं। लेकिन लोडर्स की कोई निश्चित शिफ्ट नहीं होती। उन्हें किसी भी समय आठ घंटे की ड्यूटी पर लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए उन्हें 11 बजे दिन से शाम 7.00 बजे की शिफ्ट में भी लगाया जा सकता है और बारह बजे दोपहर से रात आठ बजे की शिफ्ट में भी।

अधिकांश ट्रॉली मजदूर और लोडर हरियाणा के गांवों और कस्बों से काम करने आते हैं। कुछ मजदूर तो पटौदी और सोनीपत तक से आते हैं। पटौदी से आने वाले एक मजदूर ने बताया कि जिस दिन सुबह की पाली में काम पर जाना होता है, उस दिन उसे घर से 3.30– 3.45 बजे भोर में ही चल देना होता है। घर से चलकर वह ट्रेन से दिल्ली छावनी पहुंचता है, वहां से बस पकड़कर धौल कुआं तक, और पुनः वहां से बस पकड़कर हवाई अड्डे तक पहुंचना होता है। रात की पाली वाले मजदूरों के लिए वापस घर पहुंचना कठिन हो जाता है, क्योंकि ऐसे अटपट समय पर बसें नहीं मिलती हैं। इस असुविधा से बचने के लिए अक्सर मजदूर एक साथ दो पाली की ड्यूटी कर लेते हैं। तमाम तरह की कटौतियों के बाद महीने भर की मजदूरी इतनी कम बनती है कि हवाई अड्डों के निकट किराये पर मकान लेने के बारे में वे सोच भी नहीं सकते। बेहद मजबूरी में वे मजदूर जो किसी तरह रोज अपने घरों से आ– जा नहीं सकते, वे किराये पर मकान ले लेते हैं। किराया देने के बाद इन मजदूरों के बाद मुश्किल से इतना बचता है कि वे किसी तरह बस अपना पेट पाल लेते हैं। बचाकर कुछ घर भेजने के बारे में वे सोच भी नहीं सकते।

हालांकि हवाई अड्डा प्राधिकरण ठेका मजदूरों का मुख्य नियोक्ता है, लेकिन हवाई अड्डों के भीतर की सुविधाओं का उपयोग करने की अनुमति मजदूरों को नहीं मिलती है। आग बरसती गर्मी हो, हड्डियों को कंपाने वाली ठंड हो या भीषण बरसात- इससे बचाव का कोई उपाय नहीं। उन्हें अपने काम में जुटे रहना है। ठेकेदार प्राधिकरण से रु. 1600 की दर से वर्दी के नाम पर वसूलते हैं लेकिन वे मजदूरों को घटिया दर्जे की वर्दी देते हैं, जिसकी कीमत रु. 800 से अधिक नहीं होती। जाड़ों में उन्हें ऊनी वर्दी नहीं मिलती। मजदूर हवाई अड्डे के शौचालय का उपयोग नहीं कर सकते और न ही कैण्टीन में खाना खा सकते हैं। मजबूरी में वे आसपास के ढाबों में खाना खाते हैं। काम के बीच में यदि थोड़ी देर के लिए सांस लेने की फुरसत मिलती है तो वे हवाई अड्डा परिसर में सुस्ता नहीं सकते। हवाई अड्डों के कार पार्कों में ही उन्हें सुस्ताने की जगह नसीब हो पाती है।

मजदूरों की मजदूरी हड़पने के लिए ठेकेदार और भी कई तरह की धांधलेबाजियां करते हैं। पचासों किलोमीटर दूर से चलकर आने वाले मजदूरों को अक्सर ठेकेदार यह कहकर लौटा देते हैं कि काम नहीं है या उन्हें आधे दिन का काम देते हैं। इस वजह से अधिकांश मजदूरों को महीने में सोलह– सत्रह दिन से ज्यादा काम नहीं मिल पाता। जबकि ठेकेदार प्राधिकरण से पूरे महीने की मजदूरी वसूल लेते हैं। काम से वापस कर दिये गये मजदूरों के कामों की भरपाई वे अन्य मजदूरों से अतिरिक्त काम लेकर करते हैं परन्तु इसके बदले में वे उन्हें कोई अतिरिक्त मजदूरी नहीं देते।

प्राधिकरण के अधीन काम करने वाले स्थायी मजदूरों की मजदूरी यद्यपि ठेका मजदूरों से लगभग तीन गुने से भी अधिक है, लेकिन उनकी कार्यदशाओं में कोई विशेष फर्क नहीं है।

ठेका मजदूर (विनियमन एवं उन्मूलन) अधिनियम, 1970 में उल्लिखित शर्तों के अनुसार हवाई अड्डों पर कार्यरत इन हजारों ठेका मजदूरों के कामों का जो स्वरूप है, उसे देखते हुए अब तक उन्हें नियमित कर दिया जाना चाहिए था, लेकिन इसकी अनदेखी करते हुए ठेकेदारी प्रथा बदस्तूर चली आ रही है और ठेका मजदूरों के अमानवीय शोषण का सिलसिला जारी है।

न्यायपालिका भी न्याय न दिला सकी

दिसंबर 1996 में उच्चतम न्यायालय ने एक फैसले के द्वारा देश के हवाई अड्डों पर ठेके पर कार्यरत स्वीपरों और सुरक्षा कर्मियों को नियमित करने के लिए निर्देश जारी किया। उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय बम्बई हवाई अड्डे के मजदूरों की यूनियन 'इंडियन एयरपोर्ट्स इम्प्लाइज यूनियन' एवं अन्य संगठनों के आठ वर्ष पुराने संघर्षों का परिणाम था। इस निर्णय के बाद देश भर में हवाई अड्डा प्राधिकरण के अधीन कार्यरत लगभग 2000 स्वीपरों और सुरक्षा गार्डों को नियमित किया गया। लेकिन दिल्ली और बम्बई में एक भी सुरक्षा गार्ड को नियमित नहीं किया गया और आज भी विभिन्न श्रेणियों में कार्यरत हजारों मजदूरों से ठेकों पर काम करवाने वाले ठेकेदार और स्वयं प्राधिकरण सर्वोच्च न्यायपालिका के इस निर्णय को मुंह चिढ़ा रहे हैं।

आठ वर्षों लम्बे चले इस न्यायिक संघर्ष में मजदूरों को कितना पैसा खर्च करना पड़ा होगा, इसका पूंजीवादी न्यायपालिका की कार्यप्रणाली से परिचित कोई भी व्यक्ति सहज ही अनुमान लगा सकता है। स्पष्ट है कि पूंजी के खिलाफ श्रम की लड़ाई पूंजीवादी न्यायपालिका में नहीं जीती जा सकती।

निजीकरण की लटकती तलवार:

देश के हवाई अड्डों पर वर्षों से कार्यरत हजारों ठेका मजदूर नियमितीकरण की लड़ाई लड़ ही रहे थे कि उनके सामने निजीकरण-उदारीकरण के मौजूदा दौर में नयी चुनौतियां आ खड़ी हुई हैं। विगत 20 जनवरी को वाजपेयी सरकार की कैबिनेट ने दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास और बंगलौर के पांच अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डों को देशी-विदेशी निजी पूंजी के हाथों में सौंपने के लिए हरी झंडी दे दी है। 'उत्पादकता बढ़ाने', 'लागत कम करने', 'आधुनिककरण करने', 'तकनीकी विकास' करने आदि जुमलों की आड़ में इन अन्तराष्ट्रीय हवाई अड्डों के अतिरिक्त अन्य हवाई अड्डों का भी चरणबद्ध ढंग से निजीकरण करने की योजना है।

सरकार की इस योजना से सबसे अधिक खतरा ठेका मजदूरों को है। उनके नियमितीकरण की लड़ाई और अधिक कठिन हो गयी है। इसके साथ ही, स्थायी मजदूरों के सिर पर खतरा मंडराने लगा है। निजीकरण-कुचक्र के अनुभव साफ तौर पर यही बताते हैं कि अच्छी– खासी तादाद में ठेका मजदूरों को 'सरप्लस स्टाफ' कहकर निकाल दिया जायेगा और स्थायी मजदूरों को भी स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना के तहत जबरिया निकालने का भरपूर प्रयास किया जायेगा। इस प्रक्रिया में धीरे– धीरे स्थायी स्टाफ को न्यूनतम स्तर पर लाकर अधिकांश कामों को ठेके पर करवाना कानूनी बना दिया जायेगा।

संगठित संघर्ष ही एकमात्र रास्ता:

विभिन्न कार्यस्थलों पर बिखरे होने और अन्य अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण विभिन्न हवाई अड्डों पर कार्यरत ठेका मजदूरों के संगठित होने की गति बहुत धीमी है और संघर्षों का भी कोई लम्बा सिलसिला नहीं रहा है। लेकिन मजदूरों ने जो भी लड़ाइया लड़ी हैं, उससे वे इस बात को बखूबी समझ चुके हैं कि बिना संगठित हुए वे एक इंच हक भी नहीं हासिल कर सकते। मजदूरों ने यद्यपि संगठित होकर अपने हक के लिए न्यायपालिका के दरवाजे भी खटखटाए हैं, लेकिन अपने अनुभव से वे यह सीख चुके हैं कि सिर्फ न्यायपालिका पर निर्भर रहकर अपनी लड़ाई नहीं जीती जा सकती।

देश भर में हवाई अड्डों पर कार्यरत ठेका मजदूरों ने अब तक जो लड़ाइयां लड़ी हैं, उसमें वे सफल भी हुए हैं और असफल भी। दोनों से ही उन्होंने संघर्ष के महत्व को सीखा है। 1996 में जब प्राधिकरण ने 'जॉब कान्ट्रैक्ट' की व्यवस्था लागू की तो ठेका मजदूरों ने इसे अपने अस्तित्व का सवाल बनाकर लड़ाई लड़ी। सीटू से सम्बद्ध एयरपोर्ट इम्प्लाइज यूनियन के 200 सफाई कर्मचारी सफाई कार्य का ठेका चर्चित स्वयंसेवी संस्था 'सुलभ इंटरनेशनल' को देने के विरोध में हड़ताल पर चले गये। हवाई अड्डे पर वे आठ महीने तक धरना देते रहे। अन्त में उन्हें कामयाबी मिली और 'सुलभ इंटरनेशनल' को पीछे हटना पड़ा। लेकिन संघर्ष की समाप्ति के बाद चालीस सफाई कर्मी काम से निकाल दिये गये जबकि शेष 160 सफाईकर्मियों को काम पर वापस लेना पड़ा। मजदूरों ने इसी तरह की एक सफल लड़ाई 1992 में भी लड़ी थी।

1989 में लोडरों ने भी उस समय हड़ताल कर दी थी जब प्राधिकरण ने 23 मजदूर साथियों को काम से हटा दिया था। इसी प्रकार 1997 में भी 'सीटू' के बैनर तले विनियमितीकरण की मांग को लेकर 1000 से अधिक लोडर 33 दिनों लम्बी हड़ताल पर चले गये। प्राधिकरण ने हड़ताल तोड़ने के लिए 500 नये लोडरों की भर्ती कर ली। अन्त में प्राधिकरण से समझौता हुआ। विनियमितीकरण की मांग तो नहीं पूरी हो सकी लेकिन मजदूरों को भविष्यनिधि और वर्दी की सुविधा हासिल हुई।

लोडरों के बीच सीटू से सम्बद्ध एयरपोर्ट इम्प्लाइज यूनियन ही प्रभावी है, लेकिन इसके अतिरिक्त भी प्राधिकरण में कई यूनियन हैं। इनमें 'इण्टक' से सम्बद्ध 'सूरज' नामक यूनियन और 'एयरपोर्ट अथॉरिटी कामगार यूनियन' प्रमुख है।

प्राधिकरण द्वारा मान्यता प्राप्त एक आधिकारिक यूनियन भी है, जिसे प्रबंध तंत्र से वार्ता का अधिकार प्राप्त है, लेकिन इसके सदस्य सिर्फ स्थायी कर्मचारी ही हो सकते हैं। सितंबर 1997 में संपन्न चुनाव के बाद सीटू के समर्थन से इण्टक से सम्बद्ध यूनियन आधिकारिक यूनियन के रूप में चुनी गयी है। इसके पूर्व यह दर्जा 'कामगार यूनियन' को हासिल था। लेकिन, इन आधिकारिक यूनियनों के बारे में ठेका मजदूर अपने तजुर्बे से इस नतीजे पर पहुंच चुके हैं कि ये प्रबंध-तंत्र के औजार हैं, जो उनके संघर्षों को पटरी से उतारने का काम करते हैं।

'एयरपोर्ट अथॉरिटी कामगार यूनियन' एकमात्र यूनियन है जो स्थायी मजदूरों और ठेका मजदूरों दोनों के बीच सक्रिय है। इस यूनियन ने सभी पांचों अन्तरराष्ट्रीय हवाई अड्डों की यूनियनों के बीच निजीकरण के खिलाफ संघर्ष के लिए एक समन्वय समिति बनायी है जो इसके नेतृत्व की राजनीतिक सूझबूझ का परिचायक है।

ऊपर उल्लेखित सभी यूनियनें ठेका मजदूरों की किसी एक श्रेणी या दूसरी श्रेणी के मजदूरों के बीच अलग-अलग अपना प्रभाव रखती हैं, लेकिन सभी श्रेणियों के मजदूरों को एकताबद्ध कर उनके संघर्षों को आपस में जोड़ने का कोई महत्वपूर्ण प्रयास अभी तक नजर नहीं आया है। इससे एक श्रेणी के संघर्षों की उपलब्धियां अन्य श्रेणी के मजदूरों तक नहीं पहुंच पातीं। इन ट्रेड यूनियनों के संघर्षों के अतिरिक्त कुछेक श्रेणी के मजदूरों ने स्वयं संगठित होने की प्रक्रिया

(पेज 11 पर जारी)

युद्धोन्मादी अंधराष्ट्रवाद का विरोध करो!

(पेज 1 से जारी)

की सरकार को संकट से उबरने का एकमात्र रास्ता दीखा। हालाँकि स्थिति यह है कि अब वही संकट कई गुना अधिक गंभीर होकर नवाज शरीफ सरकार के सिर पर लटका हुआ है। अभी वाले दिनों में, पहले से ही जर्जर अर्थव्यवस्था विगत युद्ध और आगे की सामरिक तैयारियों के खर्च के बोझ से ध्वस्त होने के कगार पर पहुंच जायेगी। नवाज शरीफ सरकार को इसकी कीमत तो चुकानी ही है। उसके बाद जो भी सरकार सत्ता में आयेगी, उसे भी इसी स्थिति से गुजरना पड़ेगा तथा एकमात्र उपाय के तौर पर अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवादी ताकतों के हवाले करने का काम और तेज गति से किया जायेगा।

इधर भारत में भी, युद्ध के पहले की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। पेटेण्ट कानून और बीमा नियमन अध्यादेश के बाद, तथा अंधाधुंध उदारीकरण की नीतियों को लागू करने के बाद, भाजपा सरकार का ''स्वदेशी'' का बैलून फुस्स हो चुका था। रिकार्डतोड़ महंगाई, मजदूरों की छंटनी, बेहिसाब बढ़ती बेरोजगारी तथा आंदोलनों के लगातार दमन ने भाजपा के फासिस्ट दमनकारी चरित्र को साफ कर दिया था। ''हिन्दुत्व'' का पत्ता भी अब खेलने लायक नहीं रह गया था। इधर सरकार गिर चुकी थी और मध्यावधि चुनाव सिर पर थे। **ऐसी स्थिति में जब फासिस्ट भाजपा ने पाया कि साम्प्रदायिक जुनून पैदा करके सत्ता की सीढ़ियां चढ़ पाना मुश्किल है तो उसने ''देशभक्ति'' की आड़ में जंगजू अंधाराष्ट्रवाद का जुनून पैदा करने का रास्ता अपनाया ताकि वह इसे आने वाले चुनावों में भुना सके।** अपने वर्ग-चरित्र के हिसाब से सभी चुनावबाज पूंजीवादी और नकली वामपंथी पार्टियों ने जंग का समर्थन किया, क्योंकि एक ओर व्यवस्था का संकट सबका साझा संकट था और बुनियादी मुद्दों से सभी जनता का ध्यान हटाना चाहते थे; दूसरी ओर सभी पार्टियां चुनाव में इसे अपने-अपने ढंग से भुनाना चाहती हैं और वे ऐसा ही कर रही हैं। भाजपा विजय का सेहरा अपने सिर बांधना चाहती है तो कांग्रेस और अन्य विपक्षी दल उस पर यह इल्जाम लगाकर अपनी चुनावी गोटी लाल करना चाहते हैं कि सरकार को घुसपैठ का पता देर से लगा और यह कि उसने देश की सुरक्षा का ख्याल नहीं किया जिसकी महंगी कीमत चुकानी पड़ी।

दोनों देशों में अन्धराष्ट्रवादी शोर में एकबार फिर खो गया कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का सवाल!

शासक वर्गों की पार्टियों की चीख-पुकार के बीच इस सच्चाई पर भी एक बार फिर परदा पड़ गया कि दोनों देशों के शासक वर्ग खुद को जबर्दस्ती, संगीन की नोक पर, कश्मीर की जनता का भाग्यविधाता बता रहे हैं और कश्मीर पर अपना-अपना दावा जताते हुए वहां की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को कुचल देने का काम विगत पचास वर्षों की ही तरह आज भी बदस्तूर जारी है। दोनों ही ओर रहने वाली जम्मू कश्मीर की जनता का बड़ा हिस्सा अपनी नियती का फैसला स्वयं करना चाहता है और दोनों ही ओर उसे फौजी बूटों के नीचे जीवन बिताना पड़ता है। दोनों देशों की सरकारें वस्तुतः कश्मीर समस्या का समाधान चाहती ही नहीं हैं और सच तो यह है कि मौजूदा पूंजीवादी व्यवस्था में यह संभव ही नहीं है। कश्मीरी जनता के संघर्ष के भविष्य भारतीय मेहनतकश जनता के संघर्ष के भविष्य के साथ नत्थी हो गया है, क्योंकि सिर्फ एक समाजवादी व्यवस्था ही राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार को सच्चे अर्थों में स्वीकार करती है। अब यही भारत-पाकिस्तान की पूंजीवादी हुकूमतों के हित में है कि उपनिवेशवादियों द्वारा थोपे गये बंटवारे से जन्मी सभी समस्याएं बदस्तूर मौजूद रहें और समय-समय पर दोनों देशों में अंधराष्ट्रवादी जंगी जुनून की लहर पैदा करके अपना उल्लू सीधा करते रहा जाये। यह साम्राज्यवादी ताकतों के भी हित में है कि दक्षिण एशिया में स्गातार तनाव बना रहे। इससे उनका हथियारों का व्यापार फलता-फूलता रहता है और बीच-बचाव के नाम पर साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और प्रभाव-विस्तार का रास्ता खुला रहता है।

कारगिल की कीमत कौन चुकायेगा? युद्ध का खरचों का बोझ कौन उठायेगा?

अपना-अपना उल्लू सीधा करने के लिए हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के शासक वर्ग युद्ध का जो विनाशकारी खेल खेल रहे हैं, उसकी कीमत तो दोनों देशों की जनता से ही वसूली जानी है। इस युद्ध में प्रतिदिन 15 से 30 करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया जा रहा है। कुल मिलाकर, इसके चलते अर्थव्यवस्था पर कुल लगभग10 हजार करोड़ रुपये का अतिरिक्त खर्च पड़ने जा रहा है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि सियाचिन में मौजूदा चौकियों के रखरखाव में सरकार को पहले से ही सालाना । हजार करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अब कारगिल क्षेत्र में भी । दर्जन स्थायी सामरिक चौकियां बनानी पड़ेगी जिनका सालाना खर्च करीब 3,6000 करोड़ रुपये अनुमानित है। साथ ही पूरे सीमा क्षेत्र में तनाव के चलते फौजी चौकसी के खर्च में भी पहले की अपेक्षा काफी बढ़ोत्तरी करनी पड़ेगी। यानी इस युद्ध में जो भारी खर्च हुआ वह तो हुआ ही, सरकार के नियमित फौजी खर्च में, जो पहले से ही लगातार बढ़ता रहा है, अब एक मुश्त भारी बढ़ोत्तरी करनी पड़ेगी। वैसे ही पिछले कुछ वर्षों के दौरान भारत सरकार का फौजी खर्च लगातार बढ़ता गया है। इसके सरकारी आंकड़ों को हम तालिका में पेश कर रहे हैं, जिन्हें देखते हुए पाठकों को यह याद रखना जरूरी है कि आर्थिक सर्वेक्षण और बजट में बताया गया फौजी खर्च वास्तविक खर्च से काफी कम हुआ करता है।

वर्ष	फौजी खर्च (करोड़ रुपये)
1994-95	23, 245
1995-96	26, 856
1996-97	29, 505
1997-98	36, 099
1998-99	41, 200
1999-2000	45, 694

ध्यान रहे कि वर्ष 1999-2000 की धनराशि कारगिल युद्ध के पूर्व निर्धारित सामान्य राशि है। युद्ध में हुआ 10,000 करोड़ रुपये का खर्च इसके अतिरिक्त है और आगे इस क्षेत्र में स्थाई फौजी चौकियों पर जो 300 करोड़ रुपये प्रति माह का खर्च होगा, वह भी इस बजट-अनुमान के अतिरिक्त होगा।

परमाणु हथियार बनाने-रखने के दूसरे देशों के आधार पर अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाया है कि भारत परमाणु हथियार बनाने और रखने में आने वाले दस वर्षों तक प्रति वर्ष लगभग 3,000 करोड़ रुपये खर्च करेगा। फौजी बजट अब तक स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सेवाओं के मद में होने वाले केन्द्रीय खर्च से लगभग दूना रहा है। फौजी खर्च में जबर्दस्त वृद्धि और उपरोक्त मदों के खर्च में होती लगातार कटौती के मद्देनजर अनुमान है कि वर्ष 2000-2001 तक फौजी खर्च उपरोक्त मदों के खर्च के तीन गुने से भी अधिक हो जायेगा।

राजकीय इजारेदार क्षेत्र के विशाल सामरिक उद्योग तो सेना को कल-पुर्जे, हथियार आदि सप्लाई करते ही हैं, दुनिया के सभी साम्राज्यवादी देशों के हथियार निर्माता कम्पनियों से खरीदारी करने वाले तीसरी दुनिया के देशों में भारत सबसे आगे है। इसकी कीमत वसूली जाती है उस भारी मेहनतकश आबादी से, जो जिन्दगी की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित है। युद्धों और सेना के रख-रखाव का खर्च जुटाने के लिए जनता के ऊपर पहले ''देशभक्ति'' का सम्मोहन मंत्र फूंका जाता है और फिर उसके रंध्र-रंध्र से रक्त निचोड़ लिया जाता है।

किन वित्तीय तिकड़ोमों-फरेबों से युद्ध का खर्च जनता से वसूला जायेगा? किन रूपों में जनता भुगतेगी युद्ध का खामियाजा?

कारगिल-युद्ध से अर्थव्यवस्था पर करीब 10,000 करोड़ रुपये का जो अतिरिक्त बोझ पड़ा है, उसी का उदाहरण लें। वित्त मंत्री यह कहां से लायेंगे। ध्यान रहे कि मध्यावधि चुनाव के चलते इसी वर्ष अर्थव्यवस्था पर लगभग 1,200 करोड़ रुपये का अतिरिक्त बोझ पड़ने वाला है। सरकार क्या यह रकम देशी पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों से लेगी, जिनकी 'मैनेजिंग कमेटी' के रूप में वह काम कर रही है? — कदापि नहीं। यह खर्च कई रास्तों से मजलूम-महकूम मेहनतकशों से ही वसूला जाना है।

हिमालय जैसे वित्तीय घाटे को काबू में रखने के लिए सरकार आम जनता पर करों का बोझ— खासकर परोक्ष करों के रूप में बढ़ाने का काम करेगी, पर सिर्फ इसी रास्ते से कुछ खास समाधान हो पाना संभव नहीं है। इसलिए, सरकार विनिवेश के जरिए, यानी जनता की गाढ़ी-कमाई से खड़े किये गये सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को पूर्णतः या अंशतः देशी-विदेशी पूंजीपतियों को बेचकर कुछ खरब रुपये जुटाने की कोशिश करेगी। पर इतना भी कतई काफी नहीं होगा।

उचित तो यही होता कि सरकार ''देशभक्ति'' के उफान से बजबजाते कारपोरेट महाप्रभुओं, अन्य धनिक वर्गों तथा खुशहाल मध्यवर्ग पर 'कारगिल टैक्स' लगा देती! पर यह सरकार तो इन्हीं वर्गों की चाकर है। यह भला ऐसा कैसे करेगी? तब तीसरे नम्बर पर, यही उपाय बाकी बचता है कि सरकार केन्द्रीय आयोजना खर्च में पहले से ही हो रही कटौती की गति को और अधिक तेज कर दे तथा इसका परिमाण भी बढ़ा दे। इसका सीधा मतलब होगा कि शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी उन्मूलन, रोजगार, बिजली निर्माण, सिंचाई सुविधाओं के विस्तार, कृषि उत्पादकता में वृद्धि आदि मदों में कटौती की जाये। यानी, बुर्जुआ राज्यसत्ता अपने ''कल्याणकारी'' लबादे को, जो पहले से ही तार-तार हो रहा है, लगभग उतारकर फेंक ही डाले। तब स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जिम्मेदारियों से सरकार पूरी तरह मुक्त होकर इन्हें बाजार में बिकाऊ माल बना देगी जो आम खरीदार की पहुंच से बाहर होंगी। नई आर्थिक नीतियों के अन्तर्गत यह क्रिया पहले से ही जारी है। अब इसकी रफ्तार कई गुनी अधिक तेज हो जायेगी।

इससे भी जो कसर रह जायेगी, वह पूरी करने के लिए विदेशी कर्ज का रास्ता है, जिसके लिए साम्राज्यवादी तगड़ी शर्तें रखेंगे और उदारीकरण की प्रक्रिया इससे और अधिक तेज हो जायेगी।

यह होगी उस बहुप्रचारित युद्धपिपासु ''देशभक्ति'' की कीमत, जिसे अपनी धमनियों-शिराओं से खून का कतरा-कतरा निचोड़कर देश की मेहनतकश जनता को चुकाना होगा। पूंजीवादी राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवादी सनक की असलियत यदि इतने तथ्यों के बावजूद किसी के सामने साफ न हो तो आने वाले दिनों की हकीकत उसे इसका बखूबी अहसास करा देगी।

मेहनतकश जनता के सामने रास्ता क्या है? हमें क्या करना होगा?

इस गंभीर संकट से मुक्ति का रास्ता क्या है? उपाय सिर्फ एक है। भारत और पाकिस्तान की मेहनतकश जनता जब तक शासक वर्गों का यह खेल नहीं समझेगी, तब तक यह न सिर्फ जारी रहेगा बल्कि ज्यादा से ज्यादा उन्मादी शक्ल अख्तियार करता जायेगा।

क्रान्तिकारी शक्तियों को—मजदूरों और किसानों को उन सच्चाइयों से वाकिफ कराना होगा जो अंधराष्ट्रवादी, विस्तारवादी, आक्रामक, युद्धोन्मादी शोर में डूबकर रह जाती हैं। सरहदों पर आम मजदूरों-किसानों के बेटों की लाशें गिरती रहती हैं और देश की नहीं बल्कि शासक वर्गों की हिफाजत होती रहती है और वे देश को साम्राज्यवादियों के हाथों बेचते रहते हैं। सरहदों पर जिन गरीबों के बेटों की लाशें गिरती हैं, उन्हीं के परिवारों को हाड़ गलाकर पूंजीपतियों की तिजोरी भरनी होती है और युद्ध की कीमत भी चुकानी होती है क्योंकि 'हर वर्दी के नीचे एक किसान है, एक मजदूर है।'

हमें मेहनतकश जनता को यह सच्चाई बतानी ही होगी कि ''देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता''। देशभक्ति के नाम पर कुर्बान उन्हें ही किया जाता है, जो गरीबी-महंगाई-बेरोजगारी से लड़ते-लड़ते रोज-रोज तिल-तिल करके मरते रहते हैं। फिर उन्हें झंडा लहराकर, सलामी देकर, मरणोपरान्त पदक देकर और परिवारजनों को चन्द चांदी के सिक्के थमाकर सरकार कर्तव्यों की इतिश्री कर लेती है। कोई भी देश बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी से बनता है और उसकी हितपूर्ति ही सच्ची देशभक्ति है।

हमें लोगों को बताना होगा कि पूंजीपति वर्ग का राष्ट्रवाद मंडी में पैदा होता है और देशभक्ति उसके लिए मात्र बाजार में चलने वाला एक सिक्का है। आक्रामक राष्ट्रवाद पूंजीपति वर्ग की राजनीति का एक लक्षण होता है और सभी देशों के पूंजीपति अपनी औकात के हिसाब से विस्तारवादी मंसूबे रखते हैं। यदि इस सरकार को सच्ची देशभक्ति दिखानी ही है तो उसे सभी साम्राज्यवादी देशों की पूंजी जब्त कर लेनी चाहिए और सभी विदेशी कर्जों को मंसूब कर देना चाहिए। लेकिन वह ऐसा भला कैसे करेगी! आम जनता के लिए सच्ची देशभक्ति तो यही हो सकती है कि व्यापक जनता पर कायम पूंजीवादी अधिनायकत्व को उखाड़ फेंका जाये और साम्राज्यवादी आर्थिक शोषण एवं दबाव नेस्तनाबूद कर दिया जाये।

हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच की लड़ाई तो वैसे भी अंग्रेजों की विरासत है और यह दोनों ही देशों के पूंजीपतियों के हित में है कि वे इसे बरकरार रखें। दोनों देशों के पूंजीपतियों की दुश्मनी आपसी हितों के टकराव को लेकर है, पर दोनों ही अपने-अपने देशों की मेहनतकश जनता के दुश्मन पहले हैं जिसे वे लूटते हैं, दबाते-कुचलते हैं और फिर उन्हीं के बेटों को सरहदों पर लड़ने भेजते हैं। आम जनता के बेटों को फौजी नौकरशाहों का गुलाम बनाकर जो भाड़े की सेना तैयार की जाती है, उसका इस्तेमाल उस समय देश के भीतर जनता के ऊपर भी बेहिचक किया जाता है, जब वह अपने हकों के लिए लड़ने के लिए उठ खड़ी होती है। सेना तो वास्तव में दमनकारी राज्यसत्ता का मुख्य अंग होती है। भरती सरहद पर खड़े ''दुश्मन'' से लड़ने के नाम पर होती है, जबकि मकसद होता है ''अपनी ही'' जनता से अपनी हिफाजत के लिए तैयार रहना।

मेहनतकश जनता को यह बताना होगा कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के मजदूरों-किसानों की आपस में कोई दुश्मनी हो ही नहीं सकती। दोनों लड़ाई की गरीबी, बेरोजगारी, महंगाई, जोरों-जुल्म की जननी पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ है। दोनों को अपने-अपने देश में पूंजीवाद से लड़ना है। साम्राज्यवाद दोनों का मुश्तरका दुश्मन है। इसी असली जंग पर पर्दा डालने के लिए सरहदों पर जंग का जुनून पैदा किया जाता है। मेहनतकशों का तो वैसे भी, इन अर्थों में कोई देश नहीं होता कि पूरी दुनिया में उनके पास खोने के लिए सिर्फ बेड़ियां ही हैं। सभी जगह वे उजरती गुलाम हैं। विश्व पूंजीवाद के विरुद्ध उन सबको लड़ना है—अपने-अपने देशों की क्रान्तियों के मोर्चे पर।

मेहनतकश जनता को इसी असली लड़ाई के बारे में लगातार बताना होगा और इसी की तैयारी में उसे सन्नद्ध करना होगा।

पाठकों के लिए सूचना

भारत में क्रांतिकारी वामपंथी आंदोलन पर बहस अगले अंक से पुनः जारी रहेगी!

'बिगुल' के फरवरी 99 अंक में प्रकाशित साथी एस.आर.हरणे के पत्र से भारत में क्रांतिकारी वामपंथी आंदोलन की समस्याओं पर जिस बहस की शुरुआत हुई थी, उसकी अगली कड़ी हम स्थानाभाव के कारण इस अंक में नहीं दे पा रहे हैं। आगामी अंक से यह बहस पुनः आगे बढ़ाई जा रही है।

वैसे 'बिगुल' के स्वरूप पर अप्रैल 99 अंक के सम्पादकीय पर साथी पी.पी.आर्य के पत्र से जो बहस इस अंक से शुरू हुई है, वह भी भारत में क्रान्तिकारी वामपंथी आन्दोलन की कुछ अहम विचारधारात्मक-राजनीतिक समस्याओं से ही जुड़ी हुई है। यह बहस भी आगे जारी रहेगी। पाठकों से आग्रह है कि भारतीय क्रान्ति की राजनीतिक सांगठनिक समस्याओं और जन दिशा (Mass-Line) को लेकर क्रान्तिकारी वामपंथी शिविर में मौजूद मतभेदों से परिचित होने के लिए वे इस बहस का गंभीर अध्ययन और इस पर मनन अवश्य करें।

–सम्पादक

आप लोग कमजोर, छिछले कैरियरवादी बुद्धिजीवी हैं और 'बिगुल' हिरावलपंथी अखबार है!

बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर जारी बहस : एक पत्र और उसका उत्तर

'बिगुल' के अप्रैल 1999 अंक में हमने "बिगुल' के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार" शीर्षक से एक सम्पादकीय छापा था।

इस सम्पादकीय पर हमें एक पत्र प्राप्त हुआ है। 'बिगुल' के पाठकों और वितरक-संवाददाता-सहायक साथियों के समक्ष क्रान्तिकारी राजनीतिक मजदूर अखबार के बारे में अपने बोध और धारणा को स्पष्ट करने के लिए यह पत्र और इसका उत्तर छापना हमें बेहद उपयोगी लगा। 'बिगुल' से जुड़े साथियों और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शिविर की कतारों से हमारा आग्रह है कि वे इस बहस को जरूर पढ़ें और दो लाइनों के सघर्ष में स्वविवेक से सही-गलत की पहचान करें। कोई भी साथी, इस बहस में (दोहराव और पिष्टपेषण के बजाय) यदि सार्थक हस्तक्षेप करना चाहता है या मुद्दे-नुक्ते जोड़ना चाहता है, तो हम उसकी भागीदारी भी आमंत्रित करते हैं।

– सम्पादक

प्रिय साथी,

अप्रैल 1999 के अंक का सम्पादकीय "बिगुल' के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार' तथा सम्पादकीय की बातों को पुष्ट करने के लिए "मजदूर अखबार—किस मजदूर के लिए?" (लेनिन के 1899 में लिखे लेख रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति के एक अंश का अनुवाद) को पढ़ने के बाद बिगुल के लेखकों और पाठकों के लिए यह प्रतिक्रिया भेजी जा रही है। उम्मीद है कि आप इसे बिगुल में छापेंगे और अपने अखबार के लक्ष्य एवं स्वरूप पर बहस को आगे बढ़ायेंगे।

सम्पादकीय शुरू में ही स्पष्ट कर देता है कि बिगुल किसी ट्रेड यूनियन का मुखपत्र नहीं है और बिगुल का उद्देश्य है मजदूर वर्ग के बीच क्रान्तिकारी विचारधारा को स्थापित करना। सम्पादकीय शुरू में ही इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि विचारधारात्मक—राजनीतिक प्रचार का काम अखबार के माध्यम से सीधे-सीधे किया जाना चाहिए और अखबार को मात्र आर्थिक संघर्षों या जनवादी अधिकार के सवालों पर टीका-टिप्पणी तक सीमित नहीं रहना चाहिए। यह सब कुछ इसलिए ताकि अखबार, मजदूर वर्ग को, एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन के निर्माण एवं गठन की दिशा में, प्रेरित और उन्मुख कर सके।

इस घोषित उद्देश्य से हमारी कोई शिकायत नहीं है। हम आप से सहमत है कि देश के मजदूर आन्दोलन को ऐसे अखबार की जरूरत है। लेकिन इसके बावजूद हमारा आपसे कहना है कि बिगुल अपने ही घोषित उद्देश्य को पूरा नहीं कर रहा है। बल्कि बिगुल इस घोषित उद्देश्य के विपरीत काम कर रहा है। यह बात बिगुल के समग्र स्वरूप एवं वर्तमान सम्पादकीय दोनों में साफ तौर पर दिखाई देती है। बिगुल की यह आलोचना हम वर्तमान सम्पादकीय से ही शुरू करते हैं। बिगुल का उद्देश्य एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन का निर्माण एवं गठन बताया गया है, परन्तु अभी इस बात पर आने के पहले कि कैसे बिगुल इस जिम्मेदारी को पूरा कर रहा है, आप इसके ठीक विपरीत काम करने लगते हैं। आप बिना खुले तौर पर नाम लिये कुछ लोगों पर मेन्शेविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा देते हैं। आपने छूटते ही गाली दी। यह न तो बहादुरी का काम है और न ही अक्लमंदी का। आप की गालियों से न तो सामने वाले डरेंगे और न ही वे आपके शागिर्द हो जायेंगे। इस तरह के चिप्पे लगा देने से कहीं से भी सर्व भारतीय संगठन के निर्माण में मदद नहीं मिलती है। इसके उल्टे सामने वाले को यह समझ में आने लगता है कि आप कुछ कमजोर व छिछले लोग हैं जो कि दूसरों को गालियां देकर आत्म-महानता की कुंठाओं में जीना पसन्द करते हैं। ऐसी हरकतों से सामने वालों को यही समझ में आता है कि एक सर्व भारतीय क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन का हिस्सा बनने के लिए जो सामान्य कम्युनिस्ट विनम्रता होनी चाहिए, आप में उसकी भी कमी है। हमारा आपसे अनुरोध है कि इन गलत आदतों को सुधारिये, इस छिछलेपन से उभरिये।

चिप्पे जड़ने (या तोहमते लगा देने) और तीखी आलोचना (या राजनीतिक संघर्ष) में गुणात्मक अन्तर है। तीखी आलोचनाएं या आर-पार के राजनीतिक संघर्ष स्वागत योग्य हैं, जबकि चिप्पेबाजी निन्दनीय है। इस मामले में हमें लेनिन से सीखना चाहिए। लेनिन अपनी तीखी आलोचनाओं के लिए मशहूर रहे हैं। लेकिन लेनिन चिप्पेबाज नहीं थे। लेनिन, सामने वाले की गलतियों को (उसके लेखन एव कर्म से) पहले चिह्नित करते थे, उनका विश्लेषण करते थे और तब ही वे सामने वाले की गलत प्रवृत्ति का सूत्रीकरण करते थे। रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति लेनिन के लेख को अगर पूरा-पूरा पढ़ा जाये तो लेनिन की यह धैर्यपूर्ण कार्यशैली साफ समझ में आती है, लेनिन की कार्यशैली की यह खासियत है कि वे एकता कायम करने की नीयत से धैर्यपूर्ण लम्बे संघर्षों में विश्वास रखते थे, इसके लिए वे मशक्कत करते थे। मात्र चिप्पा लगाकर पल्ला झाड़ लेने में लेनिन यकीन नहीं रखते थे। यही वजह है कि वे सर्वहारा की क्रान्तिकारी पार्टी बनाने में सफल रहे। हमारी आपसे विनती है कि लेनिनवादी होने का डंका पीटने के बजाय, अगर आप लेनिन की इस कार्यशैली का अनुसरण करेंगे तो कहीं बेहतर होगा।

एक अन्य जगह, पर सम्पादकीय में ही, आप कुछ बिरादर संगठनों पर अल्पज्ञान-संतोष और अहम्मन्यता के शिकार होने और मेन्शेविक विचारों से बुरी तरह ग्रसित होने के आरोप जड़ते हैं। उक्त आरोप आपने किस आधार पर लगाये इसका खुलासा करने की जहमत तो आप उठाते नही है। परन्तु आप आगे यह फरमाते हैं कि इन संगठनों ने अपने पत्रों में लेखकों का नाम न देने की ("व्यक्तिवाद-विरोध" के नाम पर) जो मुहिम चला रखी है वह कूपमण्डूकतापूर्ण है। ऐसे लोगों को आपने अधकचरे मौलिक सिद्धान्तकार बताया है और कहा है कि यह नायाब कदम तो लेनिन, स्तालिन और माओ की पार्टियों को भी नहीं सूझा था।

जनाब, अपने अल्पज्ञान से पैदा होने वाली सीमाओं को स्वीकारते हुए (लेकिन अल्पज्ञान—संतोष और अहम्मन्यता के शिकार होने से इंकार करते हुए), हम यह अर्ज करना चाहते हैं कि आप गलत तथ्य पेश कर रहे हैं और गलत आलोचना कर रहे हैं। रूस और चीन के क्रान्तिकारी आन्दोलन में, गुमनाम रहकर क्रान्ति के लिए कर्म करने की स्वस्थ परम्पराएं रही हैं। गुमनाम रहकर आन्दोलन के लिये लिखते रहना भी इन परम्पराओं में शामिल था। अपने जीवनकाल में व्यक्तिगत तौर पर लेनिन, स्तालिन और माओ ने भी जनता के लिए गुमनाम लेखन या छद्म नाम से लेखन कार्य किया है। ऐसी परम्पराएं गलत नहीं, वांछनीय है। रहा सवाल हमारे हिन्दुस्तान के वर्तमान क्रान्तिकारी आन्दोलन का तो हमें ऐसी चीजों की बहुत ज्यादा जरूरत है क्योंकि आन्दोलन के टूटन व बिखराव के वर्तमान दौर में आज निकृष्ट कोटि का व्यक्तिवाद पनप रहा है। यह देखने में आ रहा है कि क्रान्तिकारी नेता एवं उनके परिवार जन अपने नामों से छपास का कोई भी मौका हाथ से निकलने नहीं देते। इससे मिलने वाली व्यक्तिगत शोहरत के लिए वे संगठन के प्रकाशन गृहों (और संगठन से जुड़े प्रकाशन गृहों) का खुलकर इस्तेमाल करने में भी नहीं लजाते। अगर किसी आन्दोलन में ऐसी निकृष्ट कोटि का व्यक्तिवाद पनप रहा हो, तो उस आन्दोलन में थोड़ा आदर्शवादी हो जाना, थोड़ा वाम हो जाना गलत नहीं है। ऐसी स्थितियों में हमें यही तय करना चाहिए कि हम दसियों वर्षों तक जनता के लिए गुमनाम लेखन करते रहेंगे और हम अपने नामों का हवाला संगठनों में लाइन के गम्भीर सवालों पर होने वाली आन्तरिक बहसों तक ही सीमित रखेंगे (यहां नामों का उल्लेख करना मजबूरी हो जाता है)। बहरहाल इतने के बाद भी अगर आप अपनी अवस्थिति पर अड़े रहना चाहते हैं, तो शौक से अड़े रहिये, व्यक्तिगत नामों से लेखन करके शोहरत पाते रहिये, परन्तु जो लोग इन संस्कारों के शिकार नहीं होना चाहते, उन्हें इस दलदल में खींचने की कोशिश भी मत कीजिए। हां, इस सवाल पर अन्त में यह कह देना जरूरी समझते हैं कि कम्युनिज्म सामूहिकता का दर्शन है, विशिष्ट व्यक्तियों की महानता का नहीं, अतः अगर साथी कम्युनिस्ट पार्टी बनाने के प्रति गम्भीर है तो उन्हें विशिष्ट व्यक्तियों की तुलना में समूह को ज्यादा तरजीह देना सीखना चाहिए। लेनिन की मशहूर किताब 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' में एक जगह (प्रगति प्रकाशन, 1985 संस्करण, पृष्ठ 177-78) में लेनिन ने काउत्स्की को उद्धृत किया है। हमारे ख्याल से हमें इसी आदर्श का पालन करना चाहिए। उस लम्बे उद्धरण का एक अंश हम आपके लिए यहां दोहरा दे रहे हैं —"सर्वहारा एक अलग-थलग व्यक्ति के रूप में कुछ भी नहीं है। उसकी शक्ति, उसकी प्रगति, उसकी आशाओं और आकांक्षाओं का एकमात्र स्रोत संगठन होता है, और केवल अपने साथियों के साथ मिलकर काम करने से ही उसे ये सब चीजें मिलती हैं। जब वह एक बड़े और मजबूत अवयव का भाग होता है तब वह खुद भी अपने को बड़ा और मजबूत महसूस करता है। अवयव ही उसके लिए मुख्य होता है, इसकी तुलना में अलग-थलग व्यक्ति का महत्व बहुत कम होता है। एक गुमनाम समूह के कण के रूप में सर्वहारा बड़े आत्मत्याग के साथ लड़ता है, उसे व्यक्तिगत लाभ या व्यक्तिगत ख्याति की कोई आशा नहीं होती, उसे जहां भी लगा दिया जाता है वह अपना कर्तव्य वहीं पर स्वैच्छिक अनुशासन के साथ पूरा करता है, जो उसकी समस्त भावनाओं और विचारों में कूट-कूट कर भरा होता है।"

बुद्धिजीवी की बात बिलकुल दूसरी है। उसका निजी ज्ञान, उसकी निजी योग्यता और उसके निजी विश्वास ही बुद्धिजीवी के अस्त्र होते हैं। वह किसी स्थान तक केवल अपने व्यक्तिगत गुणों के सहारे ही पहुंच सकता है। इसलिए इसे लगता है कि अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए पहली शर्त उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रतम अभिव्यक्ति है। बहुत मुश्किल से ही वह एक सम्पूर्ण इकाई का भाग बनने के लिए तैयार होता है और वह भी आवश्यकता से विवश होकर, अपनी इच्छा से नहीं। वह केवल जनसमूह के लिए ही अनुशासन की आवश्यकता स्वीकार करता है, चुनी हुई प्रतिभाओं के लिये नहीं और जाहिर है कि वह अपने को चुनी हुई प्रतिभाओं में गिनता है।

...बुद्धिजीवी का वास्तविक जीवन दर्शन नीत्शे का दर्शन है जो असाधारण शक्ति रखने वाले मानव की पूजा करता है, जिसके लिए अपने व्यक्तित्व का स्वच्छंद विकास ही सबकुछ होता है और जो अपने व्यक्तित्व को एक महान सामाजिक उद्देश्य के अधीन बना देना भद्दी ही नहीं बल्कि उतनी ही घृणित बात भी समझता है। और यह जीवन दर्शन बुद्धिजीवी को सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष में भाग लेने के सर्वथा अयोग्य बना देता है।

बिगुल के वर्तमान स्वरूप को सही ठहराने के लिए आपने लेनिन से गवाही दिलायी है। हम लेनिन की इज्जत करते हैं और लेनिन की जिन बातों का आपने हवाला दिया है उन्हें भी ठीक मानते हैं। लेकिन हमारा कहना यह है कि आप लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। अपनी आलोचना के इस हिस्से की शुरुआत हम आपके द्वारा लेनिन के अनुवादित लेख के एक महत्वपूर्ण वाक्य से करते हैं—"जो अखबार सभी रूसी सामाजिक जनवादियों (कम्युनिस्टों) का मुखपत्र बनना चाहता है। उसे इन अग्रणी मजदूरों के स्तर का ही होना चाहिए, उसे न केवल कृत्रिम ढंग से अपना स्तर नीचा करना नहीं चाहिए, बल्कि उल्टे उसे विश्व सामाजिक जनवाद (यानी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन) के सभी रणकौशलात्मक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए।" हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि लेनिन की यह बात तो अपनी जगह ठीक है ही पर क्या आप बिगुल को भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों (या उनके एक ग्रुप) का मुखपत्र मानते हैं? यदि आप इस सवाल का जवाब 'हां' में देते हैं, तो हमारा कहना है कि तब किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह कहे कि बिगुल का स्तर उसके पाठकों से बहुत ऊंचा है, क्योंकि बिगुल में ऐसी कोई बात ही नहीं लिखी जाती जो भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को समझ में न आये। तब हमारा यह कहना है कि यह निहायत कमजोर और निम्न स्तर का मुखपत्र है। यह भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को कुछ सार्थक देता ही नहीं है। देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की चेतना का विकास करने में इसकी कोई भूमिका नहीं है। इस मायने में यह कागज और स्याही की बर्बादी है।

यदि आप ऊपर उठाये गये सवाल का जवाब "नहीं" में देते हैं और स्वीकार करते हैं कि बिगुल मजदूर वर्ग का एक आम अखबार (Mass Political Paper) है, तब हम आपसे पहली बात यह कहेंगे कि आप लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। आप लेनिन की बातों का दो तरह से गलत इस्तेमाल कर रहे हैं। एक यह कि लेनिन की बातें सामाजिक-जनवादियों के मुखपत्र (इस्क्रा जैसे अखबारों) के लिए है। मजदूर वर्ग के एक आम अखबार, "प्रावदा" जैसे अखबार पर ये बातें लागू नहीं होती है। मजदूर वर्ग के एक आम अखबार (जिसे मजदूर वर्ग को क्रान्तिकारी चेतना से लैस करना है) में वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टिकोण से शोषण के वर्गीय स्वरूप, राजसत्ता की वर्गीय पक्षधरता, देश-समाज की घटनाओं का वर्गीय विश्लेषण होना चाहिए। यह भंडाफोड़ लेखों (Exposure Articles) से भरा हुआ होना चाहिए। इस मामले में भी लेनिन हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। 1901 में लेनिन द्वारा लिखे गये लेख "मारो-मगर मृत्यु तक नहीं" या "वस्तुगत आंकड़े" या "फैक्टरी न्यायालय" या फिर 1895 में लिखा गया लेख "फैक्टरी मजदूरों पर जुर्माना लागू करने के कानून की व्याख्या" उल्लेखनीय है। लब्बे लुबाब यह कि जब बिगुल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का मुखपत्र नहीं है और वह मजदूर वर्ग के लिए (समाजवाद को समर्पित) एक आम अखबार है तो उसके लेख ऐसे होने चाहिए जो मजदूरों के एक बड़े घेरे के लिए बोधगम्य हों। हम यहां आपसे यह मांग नहीं कर रहे हैं कि बिगुल निम्न चेतना वाले हर मजदूर को पूरा का पूरा समझ में आना चाहिए। हम यहां यह अर्ज कर रहे हैं कि बिगुल की अधिकांश सामग्री औसत चेतना (या औसत चेतना से ऊपर) वाले मजदूरों के लिए दिलचस्प पर बोधगम्य होनी चाहिए। चूंकि बिगुल का मौजूदा स्वरूप ऐसा भी नहीं है इसलिए बिगुल के पाठकों को बिगुल की आलोचना करने का पूरा अधिकार है।

लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल आप इस तरह से भी कर रहे हैं कि आप 1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन की जरूरतों और 1999 के हिन्दुस्तानी मजदूर आन्दोलन की जरूरतों में कोई अन्तर नहीं कर रहे हैं। दोनों स्थितियां एक-दूसरे से नितांत अलग-अलग है। इसी कारण से मजदूर आन्दोलन की व्यावहारिक जरूरतें भी बिलकुल अलग-अलग है। 1899 में रूसी मजूदर आन्दोलन आगे बढ़ रहा था। उन दिनों रूस में मजदूरों के स्वतः स्फूर्त आन्दोलन और समाजवादी आन्दोलन का एक दूसरे में संगम हो रहा था—मजदूरों में समाजवाद की बातों को लेकर एक भारी उत्साह तथा आकर्षण था (यह बात "रूसी सामाजिक जनवाद में एक प्रतिगामी प्रवृत्ति" को पूरा पढ़ने पर भी स्पष्ट हो जाती है)। उन दिनों मजदूर आन्दोलन इतना ऊपर उठ चुका था कि 1903 की ब्रसेल्स कांफ्रेन्स के 43 प्रतिनिधियों में से 3 प्रतिनिधि मजदूर थे। इसी एक तथ्य से अन्दाजा लगता है कि पूरे रूस के सामाजिक जनवादियों में मजदूर किस भारी गिनती में रहे होंगे। ऐसी स्थिति में समाजवाद के सीधे-सीधे प्रचार की गुंजाइश बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि मजदूर आन्दोलन में समाजवादी बातों की ग्राह्यता (Receptivity) बहुत अधिक होती है। लेकिन 1999 में भारत के मजदूर आन्दोलन की स्थिति बिलकुल उल्टी है, आज भारत का मजदूर आन्दोलन आगे नहीं बढ़ रहा है बल्कि पीछे हट रहा है। आज समाज में और मजदूर आन्दोलन में समाजवाद के प्रति आकर्षण नहीं पैदा हो रहा है, बल्कि उल्टे समाजवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी विचारों का माहौल है। आज देश की सबसे बड़ी मजदूर यूनियनों के झण्डों का रंग लाल नहीं केसरिया हुआ पड़ा है। ऐसी स्थिति में हमें अपनी ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करना पड़ेगा और भारत के मजदूर आन्दोलन के वर्तमान हालात के अनुरूप अपना प्रचार एवं अन्य कार्यवाहियां करनी होंगी। हम जड़सूत्रवादियों की तरह 1899-1905 के दौर की व्यावहारिक बातें (उसूली बातें नहीं) दोहराते नहीं रह सकते। अगर हम सफल होना चाहते हैं तो हमें स्थान-काल के भेद का ख्याल रखना होगा। स्थान-काल भेद के सम्बन्ध में लेनिन 1905 में रूसी आन्दोलन के अनुभव लिखते हैं (नये काम और नयी शक्तियां, जनता के बीच पार्टी का काम, इण्डिया पब्लिशर्स, 1982 पृष्ठ संख्या 23)—"आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामाजिक जनवादियों को बहुत सा ऐसा काम करना पड़ता था जो एक प्रकार से सांस्कृतिक कार्य होता था, अथवा उन्हें लगभग केवल आर्थिक आन्दोलन में ही जुटे रहना पड़ता था। अब एक के बाद एक ये जिम्मेदारियां नयी शक्तियों के हाथों में, उन व्यापक हिस्सों के हाथों में पहुंचती जा रही है जो अधिकाधिक मात्रा में आन्दोलन में शामिल हो रहे हैं। इसलिए, क्रान्तिकारी संगठनों ने वास्तविक राजनीतिक नेतृत्व के कार्य को पूरा करने की दिशा में, मजदूरों तथा आम जनता के विरोध आन्दोलनों से सामाजिक जनवादी नतीजे निकालने की दिशा में, अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित करना शुरू किया है। शुरू-शुरू में मजदूरों को शाब्दिक और लाक्षणिक दोनों ही अर्थों में हमें एकदम ककहरा सिखलाना पड़ता था। अब राजनीतिक साक्षरता का स्तर विराट रूप से इतना ऊंचा हो गया है कि अपनी कोशिशों को पूरी तौर से अब हम अधिक प्रत्यक्ष उन सामाजिक-जनवादी लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में लगा सकते हैं, जिनका उद्देश्य क्रान्तिकारी धारा को एक संगठित दिशा में ले जाना है।" स्थान-काल को अनदेखा करके भी आप लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल कर रहे हैं।

लेनिन की बातों का गलत इस्तेमाल करते हुए आप ऐसे पाठक को तो झांसा दे सकते हैं जो एकाग्रता से न पढ़ता हो, जो दो पैरा पहले पढ़ी हुई बातें भूल जाता हो, और जिसके दिमाग में उन बातों की केवल एक धुंधली सी तस्वीर ही बची रहती हो। परन्तु आप मेहनत करने वाले चौकन्ने पाठक को झांसा नहीं दे सकते। आप भी औसत संस्तर के मजदूर की बात करते हैं, और लेनिन भी इस श्रेणी की बात करते हैं। लेनिन और आपमें फर्क यह है कि लेनिन स्पष्टतः इन औसत मजदूरों की चेतना को परिभाषित करते है। लेकिन आप 1999 के भारत के औसत मजदूरो की चेतना को परिभाषित नहीं करते। यहां आप सीधे-सीधे चालबाजी कर रहे हैं। आप पाठक को यह झांसा देना चाहते हैं कि लेनिन ने औसत के लिए जो किया, 'बिगुल' औसत के लिए वही कर रहा है। लेनिन वस्तुनिष्ठता (Objectivity) में विश्वास रखते थे। अगर आप भी वस्तुनिष्ठ होते और 1999 के औसत मजदूर को परिभाषित करने की जहमत उठाते तो पाठकों के लिए स्थान काल का भेद एकदम साफ हो जाता और उन्हें साफ दिखाई देने लगता कि बिगुल जमाने की जरूरतों के हिसाब से कतई नहीं लिख रहा है। आपके ही द्वारा अनुवादित लेख में 1899 के औसत स्तर के मजदूर की चेतना की जो वस्तुनिष्ठ तस्वीर लेनिन पेश करते हैं उनके हिसाब से वे ऐसे लोग हैं जो समाजवाद की उत्कट इच्छा रखते हैं, मजदूर अध्ययन मण्डलों में भाग लेते हैं, समाजवादी अखबार और किताबें पढ़ते हैं, आन्दोलनात्मक प्रचार कार्य में भाग लेते हैं, और उपरोक्त संस्तर से (उन्नत चेतना वाले संस्तर से) **सिर्फ इसी बात में अलग होते हैं कि वे सामाजिक जनवादी मजदूर आन्दोलन के पूरी तरह स्वतंत्र नेता नहीं बन सकते।** जिस अखबार को **पार्टी का मुखपत्र होना है,** उसके कुछ लेखों को औसत मजदूर नहीं समझ पायेगा। जटिल सैद्धान्तिक या व्यावहारिक समस्या को, पूरी तरह समझ पाने में वह सक्षम नहीं होगा।" अब 1899 के रूस के इस औसत की तुलना आज 1999 के भारत के औसत से जरा करके बताइये—1999 का औसत मजदूर अध्ययन मंडलों में भाग लेना, समाजवादी अखबार और किताबें पढ़ना प्रचार कार्य में भाग लेना इत्यादि तो

(पेज 6 पर जारी)

'बिगुल' हिरावलपंथी अखबार है!

(पेज 5 से आगे)

बहुत दूर की बात है, 1999 के भारत का औसत मजदूर बामुश्किल एक आम हड़ताली की चेतना रखता है। वह 1899 के निम्न स्तर के रूसी मजदूर की चेतना के आस-पास खड़ा है और किन्हीं मामलों में उनसे भी पिछड़ा हुआ है। ऐसी चेतना के मजदूरों के लिए क्या किया जाना चाहिए? इनके लिए लेनिन उसी लेख में लिखते हैं "बहुत मुमकिन है कि एक समाजवादी अखबार पूरी तरह या तकरीबन पूरी तरह उनकी समझ से परे हो ऐसे संस्तरों पर राजनीतिक प्रचार और आन्दोलनात्मक प्रचार के दूसरे साधनों से प्रभाव डालना चाहिए—अधिक लोकप्रिय भाषा में लिखी गई पुस्तिकाओं, मौखिक प्रचार तथा मुख्यतः स्थानीय घटनाओं पर तैयार किये गये पर्चों द्वारा। सामाजिक जनवादियों को यहीं तक सीमित नहीं रहना चाहिए, बहुत सम्भव है कि मजदूरों के निम्नतर संस्तरों की चेतना जगाने के पहले कदम कानूनी शैक्षिक गतिविधियों के रूप में अंजाम दिये जायें। अपने सम्पादकीय में आपने 'चना जोर गरम' कहकर कई नेकनीयत और देशकाल के हिसाब से प्रचार कार्य करने वालों की खिल्ली उड़ाई है। हमारा कहना है कि 'चना जोर गरम' शैली से तो शायद वे देश के मजदूर आन्दोलन के स्तर को ऊपर उठाने में कोई सार्थक भूमिका अदा कर लें, परन्तु आपकी कम्युनिस्टिक शैली से तो अनर्थ ही होगा।

मजदूर आन्दोलन की ठोस परिस्थितियों का सही विश्लेषण न करने की वजह से आपका आन्दोलन की जरूरतों के बारे में बोध ही गलत है। आप मजदूर आन्दोलन की वर्तमान कमजोर स्थिति, आन्दोलन के भीतर राजनीतिक चेतना की गिरावट का ठीक-ठीक अन्दाजा ही नहीं लगा पा रहे हैं। ऐसे में होता यह है कि आप अपने अखबार के माध्यम से मजदूर आन्दोलन पर ऐसी बहुत सारी सामग्री लादने की कोशिश करते रहते हैं जो आन्दोलन की आवश्यकताओं से मेल नहीं खाती है। नतीजा यह निकलता है कि ढेर सारे नेकनीयत लोग आप से इसकी शिकायत करते हैं, परन्तु अपने को सही ठहराने के चक्कर में आप उनके ऊपर अपने तर्कों का जाल तथा लेनिन-स्तालिन की किताबों को गदा लेकर टूट पड़ते हैं। दोस्तो, बेहतर होगा कि अगर बिगुल का प्रचार जीवन से मेल नहीं खा रहा है तो जिन्दगी को कुचलने की कोशिश करने के बजाय प्रचार के सम्बन्ध में अपनी सोच ठीक की जाये। दोस्तो, आज हालात यह है कि कुछ जगह पर मजदूरों की एकता इतनी कमजोर हुई पड़ी है, उनकी वर्गीय चेतना इतनी भोथरी हो चुकी है कि मालिक उन्हें मई दिवस की बेहद सामान्य सभाएं भी नहीं करने दे रहे हैं। ये वहीं जगहें हैं जहां अतीत में शानदार मजदूर संघर्ष लड़े गये हैं। अगर हम इस यथार्थ को नहीं स्वीकारेंगे, तो हमारे प्रचार एवं हमारी अन्य जनकार्यवाहियां हिरावलवादी (Vanguardist) होंगी। बिगुल के साथ ऐसा ही हो रहा है। यह जनदिशा (Massline) का निषेध है। हिरावलवाद और जनदिशा के निषेध के सम्बन्ध में हम यहां आपके लिए माओ को दोहरा दे रहे हैं— "जन समुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें जन समुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार काम करना चाहिए। जन समुदाय के लिए किये जाने वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर। ऐसा अक्सर देखने में आता है कि वस्तुगत रूप में तो जन समुदाय के लिए किसी परिवर्तन की आवश्यकता है, लेकिन मनोगत रूप से वह इस आवश्यकता के प्रति अधिक जागरूक नहीं हो पाया, इस परिवर्तन को करने के लिए अभी तैयार अथवा संकल्पबद्ध नहीं हो पाया। ऐसी स्थिति में हमें धीरज के साथ इन्तजार करना चाहिए। हमें यह परिवर्तन तब तक नहीं लाना चाहिए जब तक हमारे कार्य के जरिये जन समुदाय का अधिकांश भाग उक्त आवश्यकता के प्रति जागरूक न हो जाये तथा वह उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयार और संकल्पबद्ध न हो जाये। अन्यथा हम जन समुदाय से अलग हो जायेंगे। जब तक जन समुदाय जागरूक और तैयार नहीं हो जाता तब तक कोई ऐसा काम जिसमें उसके शामिल होने की जरूरत है, महज एक खानापूरी के समान होगा तथा वह असफल हो जायेगा। ...यहां दो उसूल हैं : पहला उसूल है जनसमुदाय की वास्तविक आवश्यकताओं को देखना न कि कल्पना के आधार पर उसकी आवश्यकताओं का निर्णय कर देना। और दूसरा उसूल है जनसमुदाय की आकांक्षा। जन समुदाय को अपना संकल्प खुद ही करना चाहिए, बजाय इसके कि हम उस पर अपना संकल्प लाद दें।" (माओ, "सांस्कृतिक कार्य में संयुक्त मोर्चा", संकलित रचनायें (अंग्रेजी संस्करण), ग्रंथ 3, पृष्ठ 236-237)

अपने सम्पादकीय में आपने इस तथ्य को रखा है कि बिगुल की 75 प्रतिशत से ज्यादा बिक्री मजदूरों के बीच हो रही है। इस तथ्य पर अभी हम प्रश्न चिन्ह नहीं लगा रहे हैं। इसे हम जस का तस लेकर यह कह रहे हैं कि यह किसी भी मजदूर अखबार के लिए अच्छी बात है। लेकिन तब भी इसकी बधाई हम बिगुल के सम्पादक और लेखकों को देने के बजाय, यह बधाई हम बिगुल के वितरकों को देना पसन्द करेंगे। हमारा मानना है कि यह वितरक साथियों की मेहनत-मशक्कत की बदौलत हो रहा है, बिगुल के लेखों की अन्तरवस्तु की बदौलत नहीं।

क्रान्तिकारी अभिवादन के साथ,

आपका साथी
पी.पी. आर्य
(05-06-99)

1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी

आपका पत्र आपकी अर्थवादी, सामाजिक जनवादी, अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भटकावग्रस्त लाइन की सारी गन्दगी को उजागर कर रहा है!

प्रति,
साथी पी.पी. आर्य

प्रिय साथी,

बिगुल के अप्रैल 1999 अंक के सम्पादकीय (बिगुल के लक्ष्य और स्वरूप पर एक बहस और हमारे विचार) पर बहस को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से भेजा गया आपका पत्र मिला।

आपकी उम्मीद पूरी करते हुए हम पूरा पत्र छाप रहे हैं। हालांकि आप शायद पत्र छपने के बारे में आशंकित थे, तभी आपने बिगुल से जुड़े तमाम साथियों के पतों पर इस पत्र की प्रतियां भेजीं। हमें अफसोस है कि नाहक ही आप ने इतना धन खर्च कर डाला। ऐसा पत्र भला हम क्यों न छापते, जो आप और आप जैसों की "क्रान्तिकारी राजनीति" का चेहरा एक दम उघाड़ कर हमारे ही उद्देश्य की पूर्ति कर रहा है।

आपका पत्र न सिर्फ हमारी बात को ही साबित करता है, बल्कि यह भी स्पष्ट कर देता है कि कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी (Anarcho-syndicalist) और विविध सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों- रुझानों के बदबूदार दलदल की गहराई और क्षेत्रफल उससे कहीं ज्यादा है, जितना कि हम सोचते थे।

❑

आपने हमारे ऊपर "छूटते ही गाली देने" और "चिप्पे जड़ने" का आरोप लगाया है। आपकी शिकायत है कि हमने "*बिना खुले तौर पर नाम लिए कुछ लोगों पर मेंशेविक एवं अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी होने का चिप्पा लगा*" दिया है। आपका पत्र ही बताता है कि नाम लेने की कोई जरूरत नहीं थी, चोट जिसके मर्मस्थल पर लगनी थी, वहां लग ही गयी है। पर साथ ही, यह भी बता देना हम जरूरी समझते हैं कि सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों के असली सिरमौर जिन मठाधीशों पर हमने चोट की है, वे तो अभी भी चुप्पी साधे हुए हैं, तिलमिलाहट उन लोगों को हुई है जो मूल प्रवृत्ति के भोंड़े उपोत्पाद (by-product) मात्र हैं। आप भ्रमवश सारे आक्रमणों का निशाना स्वयं को समझ बैठे। बहरहाल, इससे यह तो स्पष्ट हुआ ही कि आप व आपके साथी किस भोंड़े हद तक सामाजिक जनवादी भटकाव के शिकार हैं। आप जैसों को तो मेंशेविक प्रवृत्ति की श्रेणी में नहीं बल्कि **राबोचेये दयेलो** और **राबोचाया मिस्ल** की प्रारम्भिक रूसी अर्थवादी प्रवृत्ति की श्रेणी में रखा जाना चाहिए।

पहली बात यह साफ कर दें कि हमने आप जैसों को मेंशेविक और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी की श्रेणी में नहीं रखा है, बल्कि आज **क्रान्तिकारी शिविर में मौजूद** मेंशेविक और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी **प्रवृत्ति** के रूप में रेखांकित किया है। कम्युनिस्ट पार्टी या शिविर के भीतर विविध प्रकार की सर्वहारा प्रवृत्तियां-रुझानें (Trends-Tendencies) या भटकाव-विच्युतियां (Aberrations-Deviations) प्रायः होती हैं। हां, प्रवृत्तियां-रुझानें यदि समाप्त नहीं हुईं तो अन्ततः एक विजातीय धारा (Stream) बन जाती हैं और भटकाव-विच्युतियां यदि ठीक नहीं हुईं तो उनकी नियति क्रान्तिकारी शिविर से प्रस्थान (Departure) ही होती है। हमें इन बुनियादी बातों की शिक्षा देना अच्छा तो नहीं लग रहा है, पर मजबूरी है। आपको मार्क्सवादी "पॉलिमिक्स" की भाषा-शैली से परिचित होना चाहिए तथा प्रवृत्तियों-रुझानों और धारा के बीच, या भटकाव-विच्युति और प्रस्थान-विपथगमन के बीच फर्क करना जानना चाहिए। शिविर में मौजूद विजातीय प्रवृत्ति या रुझान को सही सटीक नाम देना 'ईसप की भाषा' का इस्तेमाल करने के बजाय बहस को सीधे मुद्दे पर लाने का वैज्ञानिक ढंग होता है। इसे गाली या तोहमत समझना मार्क्सवादी बहस की तहजीब से नावाकिफ़ीयत ही जाहिर करता है।

आपका यह कहना भी तथ्य से परे है कि हमने बिना किसी तथ्य और तर्क के, "चिप्पे लगाने" का काम किया है। सम्पादकीय के तीसरे पैराग्राफ को आप फिर गौर से पढ़िये। हम एक बार फिर अपना तर्क स्पष्ट कर रहे हैं। **जो लोग किसी भी रूप में यह मानते हैं कि मजदूर वर्ग के बीच सीधे-सीधे विचारधारात्मक-राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई से मजदूर अखबार को बचना चाहिए और आर्थिक संघर्ष के मुद्दों एवं कार्रवाइयों तथा आम जनवादी अधिकारों व नागरिक अधिकारों के सवालों के इर्दगिर्द लेख-टिप्पणियां आदि छाप कर आम मजदूरों की चेतना के स्तर को उन्नत करना चाहिए; जो लोग मानते हैं कि चूंकि मजदूर की चेतना बहुत पिछड़ी हुई है अतः हमें अखबार के जरिए उनके बीच विचारधारात्मक-राजनीतिक कार्य करने के बजाय उन्हें महज नागरिक या जनवादी अधिकारों के बारे में व आर्थिक मांगों के बारे में जागरूक बनाने का काम करना चाहिए; जो लोग मानते हैं कि अलग-अलग कारखानों में महज आर्थिक संघर्ष से मजदूर वर्ग की चेतना का धरातल (बिना राजनीतिक शिक्षा व प्रचार तथा बिना राजनीतिक संघर्ष की कार्रवाई संगठित किये) स्वतः ही उन्नत हो जाएगा या स्वतः ही वह राजनीति और विचारधारा तक आ जाएगा, जो लोग पार्टी-निर्माण (Party Building) के काम को मजदूर वर्ग के बीच करने पर जोर नहीं दे रहे हैं, जो लोग स्वतःस्फूर्तता या मात्र आर्थिक आन्दोलनों के पीछे घिसटना अपना "क्रान्तिकारी दायित्व मानते हैं; तथा जो लोग यह मानते हैं कि आर्थिक आन्दोलन स्वतः राजनीतिक आन्दोलन में रूपान्तरित हो जाता है और स्वतः ही वह मजदूरों के भीतर राजनीतिक समझ या विचारधारात्मक समझ पैदा कर देता है — ये सब के सब एक या दूसरे रूप में अर्थवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों-रुझानों के**

[illegible]

> "राजनीतिक कार्य समस्त आर्थिक कार्य का प्राण है। यह बात एक ऐसे समय विशेष रूप से सच साबित होती है जबकि सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन हो रहा है।"
>
> **-माओ त्से-तुङ**
>
> *("एक गम्भीर सबक" की परिचयात्मक टिप्पणी, "चीन में समाजवादी उभार", चीनी संस्करण, ग्रंथ - 1, 1955)*

> "यह अक्सर होता है कि जब घटनाएं अचानक मोड़ ले लेती हैं तो एक अग्रणी पार्टी भी कुछ समय तक के लिए इस नई परिस्थिति के साथ अपनी सुसंगति नहीं बना पाती। वह वे ही पुराने जुमले दुहराती रहती है, जो इस नई परिस्थिति में अर्थहीन हो चुके होते हैं, तथा जिस अनुपात में घटनाओं में 'अप्रत्याशित' परिवर्तन हो चुका होता है, उसी अनुपात में उनकी अर्थवत्ता भी 'अप्रत्याशित रूप से' खत्म हो चुकी होती है।"
>
> **-लेनिन**
>
> (जुलाई, 1917 में लिखित लेख 'नारों के बारे में' से)

(पेज 10 पर जारी)

बिगुल पोस्टर श्रृंखला के तहत प्राप्त करें दो आकर्षक पोस्टर

कम्युनिस्ट घोषणा पत्र की 150वीं वर्षगांठ और महान पेरिस कम्यून की 128वीं जयन्ती के अवसर पर

बिगुल पोस्टर-एक और बिगुल पोस्टर-दो

प्राप्ति स्थान: जनचेतना, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ

1999 के भारत के 'क्रीडो' मतावलम्बी

(पेज 7 से आगे)

किशोरावस्था का दौर था जब इसने एक सामाजिक आंदोलन और जन-उभार की शक्ल ली तथा 1898 के वसंत में पार्टी गठित हुई। **1898 से शुरू हुए तीसरे काल को लेनिन रूसी मजदूर आंदोलन के फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल मानते हैं** *(देखिए, लेनिन : 'व्हाट इज टु वी डन' का निष्कर्ष वाला अंतिम अध्याय)*। यह कठिन दौर 1904 में समाप्त होता है, जब एक ओर लेनिन मेंशेविक अवसरवाद को निर्णायक शिकस्त देकर मार्क्सवादी पार्टी के संगठन के सिद्धान्त ('एक कदम आगे, दो कदम पीछे') प्रस्तुत करते हैं, और दूसरी ओर 1905-07 की रूसी क्रान्ति भी पूर्वपीठिका राजनीतिक हड़तालों के रूप में शुरू हो जाती है। 1908 से 1912 तक पहली रूसी क्रान्ति की हार के बाद का काल स्तालिपिन प्रतिक्रियावाद का तथा क्रान्तिकारी शक्तियों के पीछे हटने का कठिन दौर था। पुन: 1912 में वोल्शेविकों द्वारा अपनी स्वतंत्र पार्टी बनाने तथा क्रान्तिकारी आंदोलन के नये उभार के साथ उठान का नया दौर शुरू हुआ, जो फरवरी क्रान्ति से होते हुए अक्टूबर क्रान्ति तक जारी रहा। **हम जानना चाहेंगे कि आपने रूसी क्रान्ति के इतिहास की कौन सी पुस्तक पढ़ी है जिसमें 1898 से 1903-04 तक के दौर को मजदूर आन्दोलन के आगे बढ़ने का काल बताया गया है?**

और अपनी बात को सिद्ध करने के लिए आंकड़ेबाजी भी क्या खूब की है!... कि 1903 के **ब्रसेल्स कान्फ्रेन्स** के 43 प्रतिनिधियों में तीन मजदूर थे यानि 6.91 प्रतिशत! अगर ऐसा ही मानक बनायाजाये, तो आप को पता होना चाहिए कि भारत के अधिकांश कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों के सम्मेलना के प्रतिनिधियों में (गलत लाइन के बावजूद और औद्योगिक मजदूरों में बहुत कम काम के बावजूद) आप को शहरी-ग्रामीण सर्वहारा पृष्ठभूमि के लोगों का यह प्रतिशत मिल जाएगा। और उनका जो भी आधार है वह ग्रामीण सर्वहारा आबादी में ही (और अब एक हद तक औद्योगिक सर्वहारा में भी) है। वैसे आपको स्वयं अपना भी सांगठनिक इतिहास ठीक से ज्ञात नहीं है। पर आपका भला क्या दोष? **फूट-दर-फूट ने ऐसे नौबढ़ (Upstart) राजनीतिक नौदौलतियों को भी नेता बना दिया है जिन्हें भूत की जानकारी नहीं और भविष्य के बारे में जिनका रुख नजूमियों या जुआरियों जैसा है।**

❑

1899 के रूसी मजदूर आन्दोलन और 1999 के भारतीय मजदूर आन्दोलन की तुलना करते हुए, वैसे भी आपने पूरी तरह यान्त्रिक, आधिभौतिक पद्धति अपनायी है। इतिहास-विकास न तो सीधी रेखा में होता है, न ही वृत्ताकार मार्ग से होकर। इसका पथ कुण्डलाकार (Spiral) होता है। विश्व सर्वहारा क्रान्ति की वर्तमान पराजय का यह अर्थ कदापि नहीं कि मजदूर आन्दोलन रूस, चीन, भारत या कि पूरी दुनिया में आज 1899 से पीछे चला गया है। 1999 में, विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय (Reversal)का दौर अभी जारी है, पर यह विश्व स्तर पर, या भारत में, मजदूर आन्दोलन का शुरुआती दौर नहीं है। जो नई शुरुआत हो रही है या होगी, वह एक नये, उन्नत धरातल पर हो रही है या होगी। क्रान्तियों की हार ने विश्व-सर्वहारा से उसकी सारी राजनीतिक-विचारधारात्मक उपलब्धियां छीन नहीं ली हैं। हारें भी शिक्षित करती हैं।

कुछ वर्षों पूर्व तक भारतीय मजदूर वर्ग का ज्यादा बड़ा हिस्सा संशोधनवादियों को ही असली कम्युनिस्ट मानकर उनके पीछे खड़ा था। मुख्यत: वामपंथी दुस्साहसवादी भटकावों के चलते कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने औद्योगिक सर्वहारा वर्ग में काम नहीं किया। बाद में कुछ ग्रुपों ने जब शुरू भी किया, तो वे जुझारू अर्थवाद के भटकाव से ग्रस्त रहे (बाद में नौबत यहां तक आ गयी कि आप जैसे भोंड़े अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी भी मंच पर हाजिरी दर्ज कराने लगे)। आज की स्थिति यह है कि मजदूर वर्ग यदि सीटू-एटक और भाकपा-माकपा आदि से टूट रहा है तो इसका सकारात्मक पहलू यह है कि वह नकली कम्युनिज्म को और ट्रेडयूनियन नौकरशाहों को समझ चुका है। जिन्दगी के कठिन हालात उसे बदहवासी के साथ नये समाधान नये रास्ते की ओर देखने को विवश कर रहे हैं। मार्क्सवाद की यह पुरानी शिक्षा है कि ऐसे में यदि सर्वहारा वर्ग के बीच पूरी ताकत लगाकर क्रान्तिकारी शक्तियां प्रचार-शिक्षा, संगठन व आन्दोलन की कार्रवाई नहीं संचालित करेंगी तो मजदूरों का एक हिस्सा (एक ओर खासकर अपेक्षतया तथा अभिजात मजदूरों, दूसरी ओर लम्पट सर्वहाराओं के कुछ हिस्से) फासिस्ट कतारों में भी जाकर शामिल हो सकता है। हालांकि साथ ही, यह भी समझ लेना जरूरी है कि आज की विशेष विश्व-आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य पर मजदूर वर्ग में फासिस्ट प्रभाव बहुत अस्थायी- अल्पकालिक होगा। **वस्तुगत नहीं, बल्कि मनोगत कारणों से आपको 1999 के भारत की स्थिति 1899 के रूस से भी पीछे दीख रही है।** साथ ही, नेतृत्वकारी मनोगत उपादानों (Subjctive Factors) की फिलहाली कमजोरी के नतीजों को भी आप मजदूर वर्ग और उसकी चेतना पर थोपे दे रहे हैं। आपकी राजनीतिक दूर-दृष्टि और निकट-दृष्टि दोनों खराब हो चुकी है और 'पोलर ऐक्सिस' भी गड़बड़ है। आभासी यथार्थ को आप सारभूत यथार्थ समझ बैठे हैं। आपकी यह चेतना मिथ्याभासी है।

हर देश में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन अभी कमजोर है। अभूतपूर्व विश्व परिस्थितियों में वह अभी पुनर्निर्माण के प्राथमिक दौर में है। पर यह नई शुरुआत के पूर्व का ठहराव है। यह सन्नाटा भविष्य के प्रचण्ड उभार के पहले का सन्नाटा है। हमारे विचार से तो आज का समय न केवल (आर्थिक संघर्ष के साथ-साथ) राजनीतिक आन्दोलनों- हड़तालों-संघर्षों-उभारों की नई तैयारी का समय है, न केवल यह राजनीतिक- विचारधारात्मक शिक्षा-प्रचार का समय है, न केवल यह एक राजनीतिक मजदूर अखबार के प्रकाशन का, मजदूरों के अध्ययन-मण्डल संगठित करने का तथा सभी (बुर्जुआ व संशोधनवादी) यूनियनों के भीतर क्रान्तिकारी मजदूरों के केन्द्रक व कोशिकायें बनाने का समय है; बल्कि यही समय इन कामों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है और यही काम इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है। यह प्रक्रिया एक बार जब गति पकड़ लेगी तो फिर जल्दी ही भारत की स्थितियां आपको 1899 के रूस से ही नहीं बल्कि 1999 के रूस से भी काफी आगे नजर आने लगेगी। तब शायद आप तुलना की अपनी यांत्रिक आधिभौतिक पद्धति के बारे में सोचेंगे और छाती पीट कर मजदूर वर्ग को कोसना बंद कर देंगे, बशर्ते कि आपकी क्रान्तिकारिता तब तक बची रह जाये।

❑

'इस्क्रा', 'प्रावदा' और उनकी भूमिकाओं के बारे में आपने जो विचित्र किन्तु मौलिक स्थापनायें अपने पत्र में प्रस्तुत की हैं, उनसे यही स्पष्ट होता है कि आप और आपके नेतागण पार्टी- निर्माण (Party-building) और पार्टी-गठन (Party-farmation) तथा इनके द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों के बारे में या तो कुछ नहीं जानते या फिर विभ्रमग्रस्त हैं। इसके बारे में आप और आपके रहनुमा अपने भूतपूर्व रहनुमा की अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी, विसर्जनवादी और सामाजिक जनवादी भटकाव से मुक्त नहीं हुए हैं। फर्क सिर्फ यह पड़ा है कि जनता के बीच काम करने के बारे में उनकी पण्डिताऊ बोध (Perception) के स्थान पर आप की मण्डली का बोध कूपमण्डूकी अनुभववादी हैं।

पार्टी- निर्माण व पार्टी-गठन के कार्य एक-दूसरे से द्वंद्वात्मक रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं। इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर सर्वहारा वर्ग की एक एकीकृत पार्टी खड़ी होने की पूरी प्रक्रिया में कभी एक तो कभी दूसरे पहलू पर अधिक जोर पड़ता है और कभी-कभी दोनों पहलुओं के कार्य इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि यह कहना मुश्किल होता है कि कौन प्रधान है। **एक समग्र-सांगोपांग लाइन के उद्भव और विकास का काम, लाइन के प्रश्न पर कम्युनिस्ट ग्रुपों के बीच 'पालिमिक्स' का काम और फिर एक सांगठनिक-राजनीतिक प्लेटफार्म पर लाइन की एकता के आधार पर एक एकीकृत पार्टी के गठन की दिशा में आगे बढ़ने की प्रक्रिया– यह पार्टी-गठन का पहलू है।**

बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी व्यवहार में लाइन को ठोस रूप देते हुए पार्टी के चरित्र के क्रान्तिकारी रूपांतरण व सुदृढ़ीकरण का काम, सर्वहारा वर्ग व अन्य बुनियादी वर्गों के बीच क्रान्तिकारी प्रचार, शिक्षा, आंदोलन व संगठन का काम करते हुए उनके बीच से पार्टी-भरती का काम या उनके बीच से अलग-अलग स्तर के संगठनकर्ता-कार्यकर्ता तैयार करने का काम तथा उनके बीच व्यापक स्तर पर संगठन का समर्थन-आधार तैयार करने का काम, उनके जनसंगठनों में संगठन की कोशिकाओं का जाल बिछाने का काम और आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रिया में लाइन का सत्यापन करते हुए कतारों की अग्निदीक्षा का काम– ये सभी काम पार्टी-निर्माण के पहलू से जुड़े हैं। इस प्रक्रिया में ही पार्टी की कार्यशैली, पद्धति और सांगठनिक ढांचे के निर्माण की प्रक्रिया पूरी होती है।

पार्टी निर्माण व गठन के पहलू द्वन्द्वात्मक रूप से अन्तर्सम्बन्धित हैं। यदि किसी ग्रुप के सामने लाइन का सवाल प्रमुख है, तब तक सामाजिक व्यवहार की एक स्पष्ट सीमा रहेगी। **पर जैसे ही लाइन का सवाल, एक आम दिशा के स्तर तक ही, हल हो जाए; वैसे ही एक ओर ब्रो उस ग्रुप/ संगठन विशेष को तो अन्य विरादर ग्रुपों संगठनों के साथ 'पॉलिमिक्स' चलाने का काम तेज करना होगा, दूसरी ओर लाइन की अपनी समझ के आधार पर सर्वहारा व अन्य बुनियादी वर्गों को जागृति, गोलबंद और संगठित करने का काम शुरू कर देना होगा, उनके बीच से पार्टी-भरती का काम तेज कर देना होगा।** यदि इसमें देरी हुई या दूसरे पहलू की उपेक्षा की गई तो संगठन का मध्यवर्गीकरण हो जाएगा, वह अराजक बुद्धिजीवियों का गिरोह बन जायेगा और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उन्हीं के बीच से कोई धड़ा संकीर्ण अनुभववादी आंदोलनपंथी भी बन सकता है– जो जनता के बीच काम के नाम पर बस (आर्थिक व अन्य रोजमर्रे के) आंदोलनों में भागीदारी तो करे पर राजनीतिक शिक्षा व पार्टी-भरती के काम को या तो छोड़ ही दे या फिर उन्हें भोंड़े ढंग से अंजाम दे।

प्रारम्भिक दौर के बाद से ही पार्टी-गठन व पार्टी-निर्माण के काम साथ-साथ चलते हैं, पर इनमें से कभी एक तो कभी दूसरे पर जोर अधिक पड़ता रहता है। **'जार्या'** और **'ज्वेन्दा'** जैसे पार्टी पत्रों की भूमिका प्रधानत: पार्टी-गठन के कार्य से जुड़ती है क्योंकि 'पॉलिमिक्स' के जरिये वह एक पार्टी में सर्वहारा ग्रुपों के एकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है। पार्टी-निर्माण से ऐसे पत्रों की भूमिका इस रूप में जुड़ती है कि ये पार्टी कार्यकर्ताओं को शिक्षित भी करती हैं। **'इस्क्रा', 'वपर्योद', 'प्रोलेतारी','बोल्ना', 'एखो'** और **'प्रावदा'** जैसे कानूनी-गैरकानूनी पत्रों की भूमिका प्रधानत: पार्टी निर्माण के कार्य से इस रूप में जुड़ती थी कि अलग-अलग रूपों-स्तरों के बावजूद ये सभी पत्र अपने-अपने दौर में व्यापक मजदूर आबादी के उन्नत संस्तरों को राजनीतिक-विचाराधारात्मक शिक्षा देते थे, उन्हें संगठित करते थे, उनके बीच से पार्टी-भरती करते थे, पार्टी संगठनकर्ता तैयार करते थे, औसत चेतना के मजदूरों को (सीधे और उन्नत चेतना के मजदूरों के बीच से तैयार संगठनकर्ताओं के जरिए) बीच से कार्यकर्ता और **हमदर्द** तैयार करते थे और फिर आंदोलनों के दौरान व्यापक **मजदूर** आबादी में पार्टी का समर्थन-आधार व्यापक और मजबूत बनाने में सहायता करते थे। यहां पर यह याद रखना जरूरी है कि **पार्टी गठन व पार्टी निर्माण के कार्यों की तरह अलग- अलग प्रकृति के 'पार्टी ऑर्गन्स' की भूमिकाओं में भी एक द्वन्द्वात्मक अविभाज्यता है। इनके बीच कोई यान्त्रिक विभाजक रेखा नहीं खीची जा सकती या चीन की दीवार नहीं खड़ी की जा सकती।**

पार्टी-पत्रों की प्रकृति के बारे में आपके विभ्रमों की जड़ यह है कि **आप न तो पार्टी- गठन न तो पार्टी-निर्माण के बीच का भेद समझते हैं, न ही इनके अन्तरसम्बन्धों को जानते हैं।** 'एजिटेशनल आर्गन' के रूप में आप यदि पत्र निकालते भी हैं तो पूरी जनता के लिए– "सर्ववर्ग समभाव" के साथ! आम राजनीतिक-आर्थिक मसलों व नागरिक अधिकार के मसलों पर औसत बुद्धिजीवी, औसत मजदूर– सभी को एक साथ "शिक्षित" करते हैं! मजदूर वर्ग को सीधे विचारधारात्मक शिक्षा देने में आपको लाज लगती है। आप समझते हैं कि आप मजदूरों के आन्दोलनों में (वह भी निहायत अराजक व बचकाने ढंग से) भाग लेते हुए गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतते रहेंगे और उनके बीच अपना उपरोक्त चरित्र का अखबार देते रहेंगे तो औसत मजदूर उन्नत हो जाएगा और आप तक और विचारधारा तक स्वयं पहुंच जाएगा। आज की परिस्थिति में आप इतना ही करेंगे। कल जब मजदूर आम हड़ताली की चेतना से आगे खुद बढ़ जाएगा तो आप उसे विचारधारा और संगठन का झण्डा थमा देंगे। आप शेखचिल्ली तो हैं, मगर एक कायर शेखचिल्ली हैं!

❑

अब जरा नाम से लिखने न लिखने के सवाल को भी ले लें। दुनिया की सर्वहारा पार्टियों में पार्टी नामों से काम करने-लिखने की परम्परा रही है। कुछ लेख-टिप्पणियां आदि बिना नाम के भी जाते रहे हैं ('बिगुल' व अन्य पत्रों में भी प्राय: जाते हैं)। कई देशों में वर्ग-संघर्ष की ठोस स्थिति व ठोस स्वरूप के अनुसार अपने मूल नाम से ही नेतागण भी प्राय:, पूरी तरह या अधिकतर लिखते-काम करते रहे हैं। वैसे तो, पार्टी-नामों से भी लिखकर व्यक्ति स्थापित हो सकता है! आपके ख्याल से क्रान्तिकारी पार्टियों में व्यक्तिवाद के खात्मे के लिए पार्टी नाम से लिखने का चलन पड़ा। यह आपकी भोंड़ी अटकलबाजी है। पार्टी नामों से लिखने-काम करने की पद्धति राज्यसत्ता के विरुद्ध पार्टियों की एक सम्पूर्ण क्रान्तिकारी (भूमिगत/अवैध) कार्यप्रणाली का एक अंग था। साथ ही कानूनी पत्रों व खुले कामों के लिए क्रान्तिकारियों के तौर-तरीके कुछ और थे तथा इनके विपरीत के लिए कुछ और। इतिहास से सीखते हुए न तो अटकलबाजी से काम चलेगा, न ही अनुष्ठानधर्मी होने से। सिर्फ लाइन के गम्भीर सवालों पर आन्तरिक बहसों में ही नहीं, आम लेखों-निबन्धों में भी सही और गलत लाइनों की अभिव्यक्ति आती है। और जरूरत पड़ने पर व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण लेखन से उसकी लाइन को ढूंढा-देखा जा सकता है। चीन में जब भी कोई नेता विपथगामी हुआ तो उसके दशकों पुराने लेखों-रिपोर्टों और यहां तक कि पत्रों तक से उसकी विजातीय लाइन की जड़ों को खोजकर उजागर किया गया।

संगठन का ढांचा वैचारिक स्तर पर भी एकाश्मी (Monolithic)नहीं होता। संगठन के सभी पत्रों में होने वाले लेखनों और सभी जगह होने वाले कार्यों में– लाइनों का टकराव सूक्ष्मता में उस समय भी होता रहता है जबकि उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं रहता। ऐसा भी तो हो सकता है कि अपनी लाइन की विजातियता को कतारों से छुपाने के लिए कोई व्यक्ति नामहीनता का शोशा उछाले!

नाम से न लिखने से व्यक्तिवाद का निराकरण हो जाएगा– यह कुछ वैसी ही बात है जैसे तीन दशक पहले लोहियावादियों ने जातिवाद समाप्त करने के लिए नाम से टाइटिल हटाने की मुहिम चलायी थी!

वैसे आप ने भी अपनी इस मान्यता को लेकर कथनी में जितनी ढींग बघारी है, करनी में उतने अडिग नहीं हैं। आप लोग जो पत्र निकालते रहे हैं, उनमें नाम से भी लेख देते रहे हैं। आप एक व्यक्ति को भी व्यक्तिवाद का शिकार क्यों बना रहे हैं? वैसे आप पत्रों में एक व्यक्ति का नाम सम्पादक के रूप में भी लगातार देते हैं। विचारे सम्पादक जी तो गये काम से! उनकी मुण्डी तो एकदम व्यक्तिवाद के राक्षस के मुंह में ही रखी है!

वैसे कामरेड, देखने में तो ऐसा ही आता रहा है कि प्राय: ऐसे "मौलिक" नियम प्रतिपादन ऐसे व्यक्तिवादी ही करते रहे हैं; जो स्वयं अपने महिमामण्डन के लिए अपने अतीत के बारे में झूठी "गौरवगाथाएं" प्रचारित करवाते रहे हैं और अपने विरोधियों के चरित्र-हनन के लिए किसी भी हद तक नीचे उतर जाते रहे हैं।

ऐसा लगता है कि कतिपय संगठनों के कतिपय प्रकाशन गृहों के, नेताओं और उनके परिवारजनों द्वारा व्यक्तिगत इस्तेमाल का तथ्य भी आपको ऐसे ही तत्वों ने मुहैया कराया है! ऐसे ही कुत्सा-प्रचारों का घटाटोप कुछ वर्षों पहले कुछ पतित राजनीतिक तत्वों और एक चिटफण्डी बुर्जुआ अखबार में कार्यरत कुछ भाड़े के कलमघसीटों ने खड़ा किया था। लगता है अब आप जैसों को आगे करके कुछ भाई बन्द यह मोर्चा सम्हाले हुए हैं। शाबाश! डटे रहिए और इस राजनीतिक कार्यशैली की तार्किक परिणतियों की प्रतीक्षा करते रहिए।

आपका इशारा स्पष्टत: उन प्रकाशनों की ओर है जिनसे 'बिगुल' का भी सम्बन्ध है। यूं, आप जैसों को सफाई देना हम अपनी तौहीन समझते हैं, पर यह बहस जिस व्यापक पाठक समुदाय तक पहुंच रही है, उसे यह बताना जरूरी है कि आप द्वारा इंगित प्रकाशन गृह ऐसे संस्थान हैं जिनसे आम व सक्रिय सदस्यों के निकाय तथा प्रकाशनों की चयन समिति/सम्पादन समिति के रूप में प्रगतिशील-वाम बुद्धिजीवियों और घटक संगठनों के प्रतिनिधियों से बने हुए पूर्ण जनवादी ढांचे हैं जो जनवादी ढंग से संचालित होते हैं। चीजें दोस्ती या रक्त संबंधों से नहीं योग्यता, क्षमता और कुर्बानी के आधार पर तय होती है। कभी-कभी ऐसे प्रश्न वे लोग भी उठाते हैं जो क्रान्ति की आंच से अपने घरों-परिवारों को पूरी तरह बचाकर रखते हैं और स्वयं अपनी अयोग्यताओं को लेकर व्यक्तिवादी कुण्ठाओं के शिकार होते हैं।

बहरहाल, अपनी अटकलबाजी के पक्ष में बुद्धिजीवियों के बारे में लेनिन का एक लम्बा उद्धरण आपने दिया है। यह तो कुछ भी नहीं है। काफी अधिक लिखा है लेनिन ने इस विषय पर। यदि आप चाहेंगे तो हम भेज देंगे। यूं ही इधर-उधर चस्पां करने के काम आयेगा।

अनावश्यक विद्वता और दार्शनिकता दिखाना तो हमेशा बुरा होता है पर अल्प ज्ञान की स्थिति में तो वह और विद्रूप हो जाता है। कन्फ्यूशियसवादी होने का आरोप आपने लगाया है। हमने 'डिक्सनरी ऑफ फिलॉस्फी' (Dictionary of Philosophy), 'ग्रेट सोवियत इनसाइक्लोपीडिया' (Great Soviet Encyclopaedia) और 'फिलॉस्फी इन चाइना' (Philosophy in China) (जी. रामकृष्ण) से मदद ली। आप भी जरा पढ़ लीजिएगा कि कन्फ्यूशियसवाद क्या है, फिर लेबल चस्पां कीजिएगा। हां, कन्फ्यूशियस ने एक जगह एक बात कही थी कि ज्ञान व्यक्तिगत सम्पत्ति है। शायद आप यही आरोप लगाना चाहते होंगे। पर यही कन्फ्यूशियसवाद नहीं है। यह उसका मात्र एक कथन है। मार्क्सवादियों को अनर्गलप्रलाप और अप्रासंगिक शब्दों से बचना चाहिए। बिना अनावश्यक पंडिताऊपन दिखाये भी बहस की जा सकती है। सार संग्रहवाद (Eclecticism), पांडित्यवाद (Scholasticism) और आत्मधर्माभिमानिता (Selef righteousness) की प्रवृत्तियां सभी व्यक्तिवादियों में पायी जाती है। और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी राजनीति करने वालों में व्यक्तिवाद प्रचुरता में पाया जाता है।

कुत्सा प्रचार की राजनीति के बारे में मार्क्स के काल से ही काफी कुछ लिखा गया है। हम उन्हें दोहराना जरूरी नहीं समझते। आपने शायद पढ़ा ही होगा।

❑

'बिगुल' की पच्चहत्तर प्रतिशत बिक्री मजदूरों के बीच होती है, "इस तथ्य पर अभी प्रश्न चिन्ह नहीं" लगाते हुए और इसे "जस का तस लेते हुए" आपका कहना है कि "यह वितरक साथियों की मेहनत-मशक्कत की बदौलत हो रहा है, 'बिगुल' के लेखों के अर्न्तवस्तु की बदौलत नहीं।" आपका यह सूत्रीकरण भी आपकी राजनीति के चरित्र को उजागर करता है।

हर मार्क्सवादी यह मानता है कि **राजनीति या लाइन (लेखों की अर्न्तवस्तु) यदि गलत हो तो कार्यकर्ताओं की पहलकदमी, उत्साह और सर्जनात्मकता कायम नहीं रह सकती। दोनो का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है। स्तालिन और माओ का कहना है कि लाइन जब तय हो जाती है तो कार्यकर्ता निर्णायक होता है। स्पष्ट है कि वितरक साथियों की मेहनत- मशक्कत की निरन्तरता पत्र के अन्तर्वस्तु के सहीपन को ही सत्यापित करती है। जो लोग कार्यकर्ताओं को Docile tool (आज्ञाधीन उपकरण) समझते हैं, वही ऐसा सोच सकते हैं। यह एक नौकरशाह नेतृत्व की सोच है।**

आपकी लाइन को पर्याप्त तर्कों सहित हमने एक विजातीय राजनीतिक प्रवृत्ति के रूप में रेखांकित किया तो आपको लगा कि हम "छूटते ही गाली दे" रहे हैं और "चिप्पे जड़" रहे हैं। आपने हमें नसीहत भी दे डाली कि इससे पार्टी निर्माण व गठन के काम में मदद नहीं मिलेगी। पर लगता नहीं कि आप स्वयं गाली देने के इतने विरोधी हैं। आपने हम लोगों की राजनीतिक लाइन का सूत्रीकरण करने के नाम पर तो सिर्फ कुछ फतवे दिए हैं, पर हमारे ऊपर कमजोर व छिछले होने, आत्ममहानता की कुण्ठाओं में जीने, नीत्शेवादी व कन्फ्यूशियसवादी होने, पाठकों को झांसा देने आदि-आदि के ऐसे तमाम आरोप लगा डाले हैं जिनके पीछे न तो तथ्य हैं न ही तर्क। यदि हमारी बात आपको गाली लगी तो आपको या तो नसीहत देनी चाहिए थी या गाली! पर आप "गाली" के खिलाफ नसीहत भी देंगे और स्वंय गाली भी देंगे। यह दो मुंहापन नहीं तो और क्या है?

साथी, तिलमिलाने के बजाय अपने तिलमिलाने के कारणों का विश्लेषण कीजिए। सच्चाइयों के प्रति ईमानदार रवैया अपनाना चाहिए। आशा है, आप हमारी आलोचनाओं पर विचार करेंगे और इस बहस को आगे बढ़ाने के लिए पत्र लिखेंगे। 'बिगुल' में हम उसे अवश्य स्थान देंगे और बहस चलाएगें क्योंकि यह उन्नत राजनीतिक चेतना वाले मजदूरों और आम कार्यकर्ताओं को शिक्षित करने में उपयोगी सिद्ध होगा।

क्रान्तिकारी अभिवादन सहित,

-सम्पादक, **'बिगुल'**
(20-06-1999)

कम्युनिस्ट घोषणा पत्र की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर
क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं और सर्वहारा आन्दोलन के लिए
राहुल फाउण्डेशन का एक और महत्वपूर्ण प्रकाशन
कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र
– कार्लमार्क्स-फ्रेडरिक एंगेल्स
मूल्य : 10 रुपये
प्राप्ति स्थान: जनचेतना, 3/274, विश्वासखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ

मई दिवस का इतिहास

● अलेक्जैण्डर ट्वैक्टेनबर्ग

'मई दिवस का इतिहास' अलेक्जैण्डर ट्वैक्टेनबर्ग की सुप्रसिद्ध पुस्तिका है जो सबसे पहले 1929 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तिका के कई संस्करण प्रकाशित हुए और 1947 तक इसकी 5 लाख से भी अधिक प्रतियां बिक चुकी थीं। मई दिवस के विशेष अवसर पर हम बिगुल के पाठकों के लिए इस पुस्तिका के 1947 में इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क द्वारा प्रकाशित संशोधित संस्करण के हिन्दी अनुवाद की दूसरी किश्त प्रकाशित कर रहे हैं। इस प्रसिद्ध पुस्तिका का हिन्दी अनुवाद 'बिगुल' द्वारा पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। — सम्पादक

(दूसरी किश्त)

मई-दिवस अन्तराष्ट्रीय बन गया

गोम्पर्स ने अपनी आत्मकथा में मई-दिवस को पूरी दुनिया में प्रचलित करने में **'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर'** का योगदान इस प्रकार बताया है : **''जैसे-जैसे काम के घण्टे आठ करो' आंदोलन की योजनाएं विकसित हो रही थीं, वैसे-वैसे हम यह लगातार सोच रहे थे कि हम अपने लक्ष्य को विस्तारित कैसे करें। जैसे-जैसे पेरिस में होने वाली मजदूरों की अंतराष्ट्रीय कांग्रेस (इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्स कांग्रेस) का समय पास आता जा रहा था, मुझे यह बात समझ में आ रही थी कि, इस कांग्रेस से विश्वव्यापी सहानुभूति पाकर हम अपने आन्दोलन को लाभ पहुंचा सकते हैं।''** गोम्पर्स ने काफी पहले ही अपने सुधारवादी और अवसरवादी रुझानों को दिखला दिया था। उसकी यही रुझानें आगे चलकर उसकी वर्ग-सहयोगवादी नीतियों में पूर्णतः फलीभूत हुईं। यही गोम्पर्स अब समाजवादी मजदूरों के उस आन्दोलन का समर्थन पाने को तत्पर था, जिसके प्रभाव का उसने जबरदस्त विरोध किया था।

14 जुलाई, 1889 को बास्तीय के पतन की सौवीं सालगिरह पर, पेरिस में, कई देशों के संगठित समाजवादी आंदोलनों के नेता एकत्र हुए। वे पेरिस में उस अंतरराष्ट्रीय संगठन (प्रथम इण्टरनेशनल) के ढंग का मजदूरों का एक अंतराष्ट्रीय संगठन फिर से बनाने के लिए जुटे थे, जिसे 25 साल पहले उनके महान शिक्षकों-**कार्ल मार्क्स** और **फ्रेडरिक एंगेल्स** ने बनाया था। **'दूसरे इण्टरनेशनल'** की इस स्थापना बैठक में एकत्रित हुए प्रतिनिधियों ने अमेरिकी प्रतिनिधियों से 1884-86 के दौरान अमेरिका में चले 8 घंटे कार्य-दिवस के आंदोलन के बारे में और हाल ही में उसके नये सिरे से उठ खड़े होने के बारे में सुना। अमेरिकी मजदूरों के उदाहरण से उत्साहित होकर पेरिस कांग्रेस ने निम्न प्रस्ताव स्वीकार किया : ''कांग्रेस एक विशाल अन्तराष्ट्रीय प्रदर्शन आयोजित करने का निर्णय लेती है ताकि एक विशेष दिन, सभी देशों में ओर सभी शहरों में मेहनतकश जनसमुदाय राजकीय अधिकारियों से कार्यदिवस कानूनी तौर पर घटाकर आठ घण्टे करने की तथा पेरिस कांग्रेस के अन्य निर्णयों को लागू करने की मांग करे। चूंकि 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' ने दिसम्बर 1888 में अपने सेंट लुई सम्मेलन में, पहले ही ऐसे प्रदर्शन के लिए पहली मई 1890 का दिन तय किया है, इसलिए इस दिन को अंतराष्ट्रीय प्रदर्शन के लिए स्वीकार किया जाता है। विभिन्न देशों के मजदूरों को अपने देश में मौजूद परिस्थितियों के अनुसार इस प्रदर्शन को जरूर आयोजित करना चाहिए।''

1890 का मई दिवस कई यूरोपीय देशों में मनाया गया। अमेरिका में समाजवादी **पीटर मैकगाघर** के नेतृत्व में 'कारपेन्टर्स यूनियन' ने आठ घण्टे के कार्य-दिवस की मांग को लेकर हड़ताल आयोजित किया जिसमें निर्माण कार्य के मजदूरों की अन्य यूनियनों ने भी भाग लिया। समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण कठोर नियमों के बावजूद मजदूरों ने जर्मनी के औद्योगिक शहरों में मई-दिवस मनाया। हालांकि अधिकारियों ने चेतावनी दी थी और मजदूरों के दमन का प्रयास भी किया लेकिन दूसरी यूरोपीय राजधानियों में भी इसी प्रकार प्रदर्शन हुए। अमेरिका में शिकागो और न्यूयार्क शहरों में हुए प्रदर्शनों का विशेष महत्व था। कई हजार लोगों ने आठ घण्टे के कार्य-दिवस की मांग को लेकर सड़कों पर जुलूस निकाला और ये प्रदर्शन शहर के मुख्य केन्द्रों पर खुली सभाओं के साथ समाप्त हुए।

189। की ब्रूसेल्स में आयोजित अगली कांग्रेस में इण्टरनेशनल ने मई दिवस के मूल लक्ष्य, यानी 'काम के घण्टे आठ करो' को तो दोहराया ही, लेकिन साथ ही उसने यह भी जोड़ा कि इस दिन अनिवार्य रूप से काम करने की परिस्थितियों में सुधार करने और राष्ट्रों के बीच शांति सुनिश्चित करने के लिए भी प्रदर्शन होना चाहिए। इस संशोधित प्रस्ताव में आठ घण्टे के कार्य-दिवस के लिए ''मई-दिवस के प्रदर्शनों के वर्ग चरित्र'' और उन मांगों के महत्व पर जोर दिया गया जो ''वर्ग-संघर्ष को और गहरा कर रहे थे।'' प्रस्ताव में यह भी मांग की गई है कि ''जहां भी संभव हो'' काम रोक दिया जाए। हालांकि मई-दिवस की हड़तालों के पीछे कुछ खास और तात्कालिक मुद्दे थे लेकिन इण्टरनेशनल ने प्रदर्शनों के उद्देश्यों को विस्तारित करने और उन्हें ठोस रूप देने का प्रयास शुरू कर दिया। ब्रिटिश श्रमिक संगठनों ने मई-दिवस की तात्कालिक मांगों पर भी हड़ताल करने से इनकार करके, और जर्मन सामाजिक जनवादियों के साथ मिलकर मई-दिवस के प्रदर्शन को मई के पहले रविवार तक स्थगित करने के पक्ष में मतदान किया।

अंतराष्ट्रीय मई-दिवस पर एंगेल्स के विचार

एंगेल्स ने 1मई, 1890 को लिखे, 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' के चौथे जर्मन संस्करण की प्रस्तावना में, अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा संगठनों के इतिहास की समीक्षा करते हुए प्रथम अंतरराष्ट्रीय मई-दिवस के महत्व की ओर ध्यान खींचा :

''जब मैं यह पक्तियाँ लिख रहा हूँ, यूरोप और अमेरिका का सर्वहारा अपनी शक्तियों की समीक्षा कर रहा है, यह पहला मौका है जब, सर्वहारा वर्ग एक झण्डे तले, एक तात्कालिक लक्ष्य के वास्ते, एक सेना के रूप में, गोलबन्द हुआ है : आठ घण्टे के कार्य-दिवस को कानून द्वारा स्थापित कराने के लिए...। यह शानदार दृश्य जो हम देख रहे हैं, वह पूरी दुनिया के पूंजीपतियों, भूस्वामियों को यह बात अच्छी तरह समझा देगा कि पूरी दुनिया के सर्वहारा वास्तव में एक हैं। काश! आज मार्क्स भी इस शानदार दृश्य को अपनी आंखों से देखने के लिए मेरे साथ होते।''

सर्वहारा के एक साथ हो रहे अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शन पूरी दुनिया के मजदूरों की कल्पनाओं और क्रान्तिकारी सहजवृत्तियों को अधिकाधिक जागृत कर रहे थे और हर साल प्रदर्शनों में हिस्सा लेने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

1893 में ज्यूरिख में हुई इण्टरनेशनल की कांग्रेस में पहली मई के प्रस्ताव में जोड़ा गया निम्नलिखित अंश खुद ही आन्दोलन के प्रति मजदूरों के बढ़ते समर्थन को दिखलाता है। इस कांग्रेस में एंगेल्स भी उपस्थित थे।

''पहली मई के दिन आठ घण्टे के कार्य दिवस के लिए होने वाले प्रदर्शन को साथ ही साथ अनिवार्यतः सामाजिक परिवर्तन के जरिये वर्ग विभेदों को नष्ट करने की मजदूर वर्ग की दृढ़निश्चयी आंकाक्षा का प्रदर्शन भी होना चाहिए। इस प्रकार मजदूर वर्ग को उस राह पर कदम रखना चाहिए जो सभी मनुष्यों के लिए शान्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की ओर ले जाने वाली एकमात्र राह है।''

अनेक पार्टियों के सुधारवादी नेताओं ने पहली मई के प्रदर्शनों को ओजहीन बनाने की कोशिश की। 'उनतेने संघर्ष के इन दिनों को आराम और मनोरंजन के दिनों में बदलने की कोशिश की। इसीलिए वे हमेशा मई-दिवस का प्रदर्शन पहली मई के सबसे नजदीक वाले रविवार को आयोजित करने पर जोर देते थे। रविवार को मजदूरों को हड़ताल के जरिए काम ठप करने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि उस दिन वैसे भी काम नहीं होता था। सुधारवादी नेताओं के लिए यह दिन मात्र मजदूरों का एक अंतराष्ट्रीय छुट्टी का दिन था, शोभायात्रायों का दिन और दूर देहातों के मैदानों में खेल का दिन। जबकि मई-दिवस के बारे में ज्यूरिख कांग्रेस के प्रस्ताव में मांग यह की गई थी कि मई-दिवस ''वर्ग-विभेद के खात्मे के लिए मजदूर-वर्ग की दृढ़निश्चयी आकांक्षा के प्रदर्शनों का दिन'' होना चाहिए, यानी, एक ऐसा प्रदर्शन जो शोषण और उजरती गुलामी पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था के ध्वंस के लिए हो लेकिन इससे सुधारवादियों को कोई दिक्कत नहीं थी, क्योंकि वे अपने आप को इण्टरनेशनल के निर्णयों से बंधा हुआ नहीं मानते थे। वे इण्टरनेशनल की कांग्रेसों को मात्र अंतराष्ट्रीय दोस्ती और सद्भाव के लिए किए जाने वाले जमावड़े समझते थे। जैसे जमावड़े युद्ध से पहले अनेक यूरोपीय राजधानियों में हुआ करते थे। उन्होंने सर्वहारा-वर्ग की अंतराष्ट्रीय एकजुट कार्रवाइयों को हतोत्साहित और विफल करने के हर सम्भव प्रयास किये। अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेसों के निर्णय, जो उनके विचारों से मेल नहीं खाते थे, उनके लिए कागजी प्रस्ताव मात्र थे। बीस साल बाद इन सुधारवादियों का ''समाजवाद'' और ''अंतर्राष्ट्रीयतावाद'' पूरी दुनिया के सामने बिल्कुल बेनकाब और नंगा खड़ा था। 1914 में इण्टरनेशनल बिखर गया, क्योंकि अपने जन्म से ही वह अपनी मृत्यु का कारण साथ लेकर चल रहा था, और वह कारण थे- मजदूर-वर्ग को गुमराह करने वाले सुधारवादी नेता।

1900 की पेरिस की अतंरराष्ट्रीय कांग्रेस में पुरानी कांग्रेसों में ली गई मई-दिवस के प्रस्ताव को दोहराया गया। साथ ही इस प्रस्ताव को इस बात के साथ और भी शक्तिशाली बनाएगी। लगातार बढ़ते मई-दिवस के प्रदर्शन अब शक्ति-प्रदर्शन में बदलते जा रहे थे। प्रदर्शनों में भाग लेने वाले और पहली मई को काम-बन्दी में हिस्सा लेने वाले मजदूरों की तादाद लगातार बढ़ रही थी। मई-दिवस लाल-दिवस बन गया, एक ऐसा दिन जो जब भी आता था तो सभी देशों के प्रतिक्रियावादी शासकों के अपशकुन साथ लेकर आता था।

मई दिवस पर लेनिन के विचार

रूसी क्रान्तिकारी आंदोलन में अपनी शुरुआती सक्रियताओं के दौर में ही लेनिन ने रूसी मजदूरों से मई-दिवस का परिचय कराने में और उन्हें यह बताने में कि वह पूरे प्रदर्शनों और संघर्षों का दिन है, विशेष योगदान दिया। 1896 में, जब लेनिन जेल में थे, उन्होंने **'सेंट-पीटर्सबर्ग यूनियन ऑफ स्ट्रगल फॉर द लिबरेशन ऑफ दि वर्किंग क्लास'** नाम से एक मजदूर संगठन के लिए एक मई-दिवस पर्चा लिखा। यह मजदूर-संगठन रूस में बने सबसे पहले मार्क्सवादी राजनीतिक ग्रुपों में से एक था। यह दस्तावेज, गैर-कानूनी तरीके से जेल से बाहर लाया गया, मीमोग्राफी द्वारा इसकी दो हजार प्रतियां की नकल उतारी गयी और उन्हें चालीस कारखानों के मजदूरों के बीच वितरित किया गया। यह पर्चा काफी छोटा था ताकि कम समझदार मजदूर भी आसानी से समझ सकें। एक समकालीन ने, जिसने पर्चे के प्रकाशन में मदद की थी, लिखा है- ''जब एक महीने बाद 1896 में प्रसिद्ध टेक्सटाइल हड़ताल हुई, तो मजदूर हमें बता रहे थे कि इस आंदोलन को संवेग देने वाला प्रथम प्रेरणास्रोत वही छोटा सा मई-दिवस पर्चा था।''

फैक्टरियों के मालिक किस तरह अपने मुनाफे के लिए मजदूरों का शोषण करते हैं, और सरकार उन पर किस तरह अत्याचार करती है जो अपनी स्थिति को सुधारने की मांग करते हैं, यह बताने के बाद लेनिन मजदूरों को मई-दिवस के महत्व के बारे में बताते हैं।

''फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड और अन्य देशों में मजदूर पहले ही शक्तिशाली यूनियनों में एकजुट हो चुके हैं, और उन्होंने अपने अनेक अधिकारों को लड़कर जीता है। वे 19 अप्रैल (1 मई) [पहले रूसी कलेण्डर पश्चिमी यूरोपीय कैलेण्डर से 13 दिन पीछे चलता था।] को एकत्र होते हैं, जो एक सामान्य छुट्टी का दिन होता है। उस दिन वे दमघोंटू कारखानों को छोड़कर, संगीत की लय पर अपने लहराते हुए झण्डों के साथ शहर की मुख्य सड़कों पर मार्च करते हैं– अपने मालिकों को लगातार अपनी बढ़ती हुई शक्ति दिखलाते हुए। उस दिन भारी संख्या में मजदूर इन प्रदर्शनों में जुटते हैं, जहां भाषणों में, बीते सालों में मालिकों पर मिली जीतों को फिर से गिनाया जाता है ओर आने वाले सालों में संघर्षों की रणनीति तैयार की जाती है। इन प्रदर्शनों में मजदूरों की गरज के नीचे दबे मालिकों की यह हिम्मत नहीं होती कि वे कारखानों में न आने के लिए मजदूरों पर एक पैसे का भी जुर्माना करें। उसी दिन मजदूर फिर से मालिकों के सामने फिर अपनी पुरानी मुख्य मांग रखते हैं : 'आठ घण्टे काम, आठ घण्टे मनोरंजन'। यही वह मांग है जिसे आप और दूसरे देशों के मजदूर लगातार बुलन्द कर रहे हैं।''

रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन ने मई-दिवस का पूरा फायदा उठाया। नवम्बर, 1900 में 'खारकोव में मई दिवस' नामक पुस्तिका में प्रकाशित प्राक्कथन में लेनिन ने लिखा :

''अगले छः महीनों में, रूसी मजदूर नयी शताब्दी के पहले वर्ष का मई-दिवस मनाएंगे। यही वह समय होगा कि जितना संभव हो उतनी बड़ी संख्या में जगह-जगह मई-दिवस मनाएं। इसमें बड़े पैमाने पर मजदूर हिस्सा लें। लेकिन हमारा लक्ष्य सिर्फ बड़ी संख्या में मजदूरों का भाग लेना नही हैं, बल्कि पूरी तरह संगठित होकर भाग लेना है। एक संकल्प के साथ भाग लेना है, जो एक ऐसे संघर्ष का रूप ले, जिसे कुचला न जा सके, जो रूसी जनता को राजनीतिक आजादी दिला सके, और नतीजतन जो सर्वहारा को अपने वर्ग-विकास और फिर समाजवाद के लिए एक खुली लड़ाई का मौका दे।''

यह आसानी से समझा जा सकता है कि लेनिन मई-दिवस के प्रदर्शनों को कितना महत्व देते थे। उन्होंने मजदूरों का छः महीने पहले ही आह्वान कर दिया था कि मई-दिवस पर संगठित हो, उसे कैसे मनाएं। उनके लिए मई-दिवस ''रूसी जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए एक अदम्नीय संघर्ष को खड़ा करने'' के लिए और ''सर्वहारा के वर्ग-विकास और समाजवाद के लिए रैलियां करने'' का दिन था।

मई-दिवस के आयोजन कैसे ''महान राजनीतिक प्रदर्शन बन सकते हैं'', इस पर बोलते हुए लेनिन ने 1900 के खारकोव मई-दिवस आयोजन को एक ''विशिष्ट महत्व की घटना'' बताते हुए कहा- **''इस दिन सड़कों पर बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं, भारी संख्या में मजूदरों ने हड़तलों में भाग लिया, लाल झण्डे फहराए गए, परचे में छपी मांगें प्रस्तुत की गयीं, और इन मांगों, यानी आठ घण्टे के कार्य-दिवस और राजनीतिक स्वतंत्रता की मांगों, के क्रान्तिकारी चरित्र का प्रदर्शन हुआ।''**

लेनिन ने खारकोव के पार्टी नेताओं की आठ घण्टे के कार्य-दिवस की मांग के साथ अन्य छोटी-मोटी और शुद्ध आर्थिक मांगों को मिलाने के लिए कड़ी भर्त्सना की, क्योंकि वह नहीं चाहते थे कि मई-दिवस का राजनीतिक चरित्र किसी भी तरह धुंधला हो। इसके बारे में उपर्युक्त प्राक्कथन में ही वह लिखते हैं-

''इन मांगों में सबसे पहली मांग होगी आठ घण्टे के कार्य-दिवस की आम मांग, जो सभी देशों के सर्वहारा-वर्ग ने की है। इस मांग का सबसे पहले रखा जाना खारकोव के मजदूरों को अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी मजदूर आंदोलन के साथ एकजुटता के अहेसास को दर्शाता है और निश्चित रूप से इसी लिए इस मांग को छोटी-मोटी आर्थिक मांगों से नहीं मिलाया जाना चाहिए, जैसे-फोरमैन द्वारा अच्छे बर्ताव की मांग या तनख्वाह में दस फीसदी की बढ़ोत्तरी की मांग। आठ घण्टे के कार्य-दिवस की मांग पूरे सर्वहारा वर्ग की मांग है और सर्वहारा उसे एक-एक मालिक के सामने नहीं बल्कि सरकार के सामने रखता है, क्योंकि ये ही आज के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिनिधि हैं। सर्वहारा वर्ग यह मांग समूचे पूंजीपति वर्ग के सामने रखता है जो सभी उत्पादन के साधनों का मालिक है।''

मई-दिवस के राजनीतिक नारे

अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा के लिए मई-दिवस एक

(पेज 10 पर जारी)

मई दिवस का इतिहास

(पेज 9 से आगे)

खास दिन बन गया था। आठ घण्टे के कार्य-दिवस की मूल मांग के साथ कुछ दूसरे महत्वपूर्ण नारे जुड़ गए जिन पर मज़दूरों को मई-दिवस की हड़ताल और प्रदर्शनों के दौरान ध्यान देने के लिए आह्वान किया गया। इनमें ये नारे शामिल थे-**''अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-वर्ग की एकता-जिन्दाबाद'', ''साम्राज्यवादी युद्ध और औपनिवेशिक उत्पीड़न का विरोधा करो'', ''राजनीतिक बन्दियों को मुक्त करो'', सार्वभौमिक मताधिकार दो'', ''आंदोलन करने का अधिकार दो'', ''मजदूरों को राजनीतिक और आर्थिक संगठन बनाने का अधिकार दो।''**

पुरानी इण्टरनेशनल में मई-दिवस के प्रश्न पर आखिरी बार 1904 में एम्सटर्डम कांग्रेस में विचार हुआ था। मई-दिवस के प्रदर्शनों में इस्तेमाल हो रहे नारों और इस बात पर समीक्षा करते हुए कि, कई देशों में अभी भी मई-दिवस पहली मई के बजाय मई के पहले रविवार को मनाया जा रहा है, इस कांग्रेस में पारित प्रस्ताव पुनः इन शब्दों में समाप्त होता है :

''एम्सटर्डम में अंतरराष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस सभी देशों की सामाजिक-जनवादी पार्टियों और ट्रेड यूनियनों का आह्वान करती है कि वे पहली मई को पूरी ऊर्जा के साथ प्रदर्शन करें ताकि आठ घण्टे के कार्य-दिवस को कानून द्वारा लागू किया जा सके सर्वहारा की वर्ग मांगों को हासिल किया जा सके और अंतर्राष्ट्रीय शांति को स्थापित किया जा सके। पहली मई के प्रदर्शन का सबसे प्रभावशाली तरीका है-काम-बंदी। इसलिए कांग्रेस सभी देशों के सर्वहारा संगठनों के लिए यह आदेश जारी करती है कि जहां भी सम्भव हो मजदूरों को हानि पहुंचाए बिना पहली मई को काम बंद कर दें।''

जब अप्रैल, 1912 में साइबेरिया में लेना के सोने के खानों के मजदूरों का कत्लेआम हुआ तो रूस में एक बार फिर क्रांतिकारी सर्वहारा जन कार्रवाई का प्रश्न उठने लगा। उसी साल के मई-दिवस पर सैकड़ों हजार मजदूर काम बंद करके सड़कों पर उतर आए। यह उनकी जार के अत्याचारों को चुनौती थी जो 1905 की असफल रूसी क्रान्ति के बाद से शासन कर रहा था। इस मई-दिवस के बारे में लेनिन ने लिखा है :

''पूरे रूस में हुई मई की महान हड़ताल, इससे जुड़े सड़कों पर हुए प्रदर्शन, मजदूरों का क्रान्तिकारी ऐलान, मजदूरों को दिए गए क्रान्तिकारी भाषण, साफ तौर पर यह बताते हैं कि रूस एक बार फिर धधकती हुई, क्रान्तिकारी परिस्थिति में प्रवेश कर रहा है।''

पहले विश्व-युद्ध के दौरान मई-दिवस

सामाजिक-जनवादी नेताओं द्वारा युद्ध के दौरान किया गया विश्वासघात 1915 में अपनी पूरी नग्नता के साथ सामने आ गया। उन्होंने अगस्त, 1914 में साम्राज्यवादी सरकारों से हाथ मिला लिया था। इन विश्वासघातियों का यह भण्डाफोड़ इसी दोस्ती का अवश्यम्भावी परिणाम था। जर्मनी के सामाजिक जनवादियों ने मजदूरों को काम पर लगे रहने के लिए कहा और फ्रांसीसी समाजवादियों ने एक विशेष घोषणा-पत्र में मालिकों को पहली मई से न घबराने के लिए आश्वस्त किया। दूसरे युद्धरत देशों के समाजवादियों के बहुतांश में भी ऐसी ही रूझानें दीख रही थीं। इन हालात में केवल रूस में बोल्शेविक और अन्य देशों में अल्पमत क्रान्तिकारी ही समाजवाद और अंतर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति ईमानदार बने हुए थे। लेनिन, लक्जेम्बर्ग और लिब्कनेख्त की आवाजें सामाजिक अन्धराष्ट्रवाद के नशे में पागल लोगों के विरोध में उठ खड़ी हुईं। 1916 के मई-दिवस के दिन आंशिक रूप से हुई हड़तालों और सड़कों पर हुई खुली झड़पों ने यह दिखा दिया कि सभी युद्धरत देशों के मजदूर अपनेआप को कमीने गद्दारों के जारीले प्रभाव से मुक्त कर रहे हैं। सभी क्रान्तिकारियों की तरह लेनिन की नजर में ''अवसरवाद का पतन (दूसरे इण्टरनेशनल का पतन) मजदूर आंदोलन के लिए काफी फायदेमन्द था'' और लेनिन द्वारा गद्दारों से मुक्त एक नया इण्टरनेशनल बनाने का आह्वान उस समय वक्त की पुकार थी।

1915 की जिमरवाल्ड और 1916 की कीन्थॉल समाजवादी कांग्रेस में यह निश्चय किया गया कि लेनिन के 'साम्राज्यवादी युद्ध को गृह-युद्ध में बदलने' के नारे के तहत सारी दुनिया की क्रान्तिकारी अंतर्राष्ट्रीयतावादी पार्टियों और छोटी-छोटी समाजवादी पार्टियों की एकता को मजबूत किया जाएगा। 1916 के मई-दिवस पर कार्ल लिब्कनेख्त और समाजवादी आन्दोलन में अनेक उनके समर्थकों के नेतृत्व में बर्लिन में हुए विशाल प्रदर्शन मजदूर-वर्ग की जीवन्त शक्तियों के प्रमाण थे, जो पुलिस के दमन और आधिकारिक नेताओं के विरोध के बावजूद आगे बढ़ती जा रही थी।

1917 में अमेरिका में युद्ध की घोषणा के बावजूद मई-दिवस की गतिविधियां रूकी नहीं। समाजवादी पार्टी के सर्वहारा तत्वों ने सेंट लुई में अप्रैल के शुरू में हुए आपात अधिवेशन में पारित युद्ध-विरोधी प्रस्ताव को गंभीरता से लिया, और मई-दिवस का इस्तेमाल साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में प्रदर्शन के लिए किया। 1919 में क्लीवलैण्ड में हुआ मई-दिवस का प्रदर्शन खास तौर पर उग्र था। इसका नेतृत्व करने वाले चार्ल्स ई. रथेनबर्ग आगे समाजवादी पार्टी के स्थानीय सेक्रेटरी थे। आगे चलकर वे कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापकों में से एक बनें और वे उसके जनरल सेक्रेटरी भी थे। 20,000 से भी ज्यादा मजदूरों ने, इस प्रदर्शन में, पब्लिक स्क्वायर की सड़कों पर मार्च किया, और वहां पर हजारों नये लोगों ने इसमें जुड़कर इस प्रदर्शन को महान बनाया। पुलिस ने क्रूरता से इन मजदूरों की सभा पर हमला किया जिसमें एक मजदूर की मृत्यु हो गयी और अनेक मजदूर बुरी तरह घायल हो गये।

1917 मई-दिवस, जुलाई और फिर अक्टूबर के दिन रूसी क्रांति के विकास के विभिन्न चरण थे जो बाद में रूसी क्रांति को उसके लक्ष्य तक ले गये। रूसी क्रांति ने , जिसने मानव जाति के इतिहास में एक नये युग की शुरुआत की, मई-दिवस की परम्पराओं को नया संवेग और महत्व दिया। धरती के छठवें भाग पर सर्वहारा शक्ति की विजय ने उस आकांक्षा को जीवन में उतार दिया था जो 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' के नेताओं के मई-दिवस प्रदर्शन की इस प्रतिज्ञा से झलकता है जो उन्होंने 1890 को न्यूयार्क के यूनियन स्क्वायर पर ली थी- ''आठ घण्टे के कार्य-दिवस के लिए संघर्ष करते हुए हम अपने अन्तिम लक्ष्य से कभी नज़र नही हटायेंगे - यानी (पूंजीवादी) उजरत प्रणाली का ध्वंस।''

रूसी मजदूर-वर्ग इस लक्ष्य को सबसे पहले पूरा करने में सफल हुआ था। लेकिन 1917 के बाद 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' के नेता उस लक्ष्य से काफी दूर जा चुके थे, जिसको उन्होंने 1890 में घोषणा की थी। अब उनका पहला सरोकार पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने और साम्राज्यवाद के लिए राहें आसान करना था। वे नहीं चाहते थे कि अमेरिकी मजदूरों को रूसी सर्वहारा की उन ऐतिहासिक उपलब्धियों से प्रेरणा मिले, जिन्होंने मई-दिवस की संघर्ष भावना को एक नया अर्थ दिया था और जिस दिन मजदूर-वर्ग अपनी अंतर्राष्ट्रीय एकजुटता तथा पूंजीवादी शोषण एवं उजरती गुलामी की व्यवस्था से मुक्ति के लक्ष्य की घोषणा करता है।

1923 में मई-दिवस के लिए 'वर्कर' नामक साप्ताहिक में चार्ल्स ई. रथेनवर्ग ने लिखा : **''मई-दिवस -वह दिन जो पूंजीवादियों के दिल में डर और मजदूरों के दिल में आशा पैदा करता है इस साल सारी दुनिया के मजदूर अमेरिका में कम्युनिस्ट आन्दोलन को हमेशा से ज़्यादा मजबूत पाएंगे.....महान उपलब्धियों के लिए रास्ता साफ है, और दुनिया की किसी भी जगह की तरह अमेरिका का भविष्य भी कम्युनिज़्म है।''**

इसी साप्ताहिक 'वर्कर' के करीब सत्रह साल पहले के एक अंक में जो कि मई-दिवस विशेषांक था, यूजीन वी. डेब्स ने लिखा था : **यह सबसे पहला और एक मात्र अन्तर्राष्ट्रीय दिवस है। यह मजदूर-वर्ग से सरोकार रखता है और क्रांति को समर्पित है।''** यह अंक 27 अप्रैल 1907 को प्रकाशित हुआ था।

मई-दिवस की इस बढ़ती हुई जुझारू परम्परा के जवाब में 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' के नेताओं ने केवल श्रम-दिवस के रिवाज को प्रोत्साहित किया, जो सितम्बर के पहले सोमवार को मनाया जाता था। मूलतः 1885 में स्थानीय स्तर पर इस दिन को स्वीकार किया गया था और बाद में मई-दिवस के आयोजनों को प्रभावहीन बनाने के लिए कई राज्य सरकारों ने इसे मान्यता दे दी। हूवर प्रशासन ने 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' के सहयोग से पहली मई को 'बाल स्वास्थ्य दिवस' घोषित कर एक और जवाबी कार्रवाई की बच्चों के स्वास्थ्य के बारे में अचानक पैदा हुई इस रुचि को 1928 के 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' के सम्मेलन के लिए एक्जिक्यूटिव कार्डासेल द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट को पढ़कर समझा जा सकता है। इसमें लिखा गया था -''कम्युनिस्ट अभी भी पहली मई को मजदूर-दिवस के रूप में मनाते हैं। लेकिन आज के बाद से पहली मई 'बाल स्वास्थ्य दिवस' के रूप में जाना जाएगा। क्योंकि राष्ट्रपति ने कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव के मुताबिक यह आह्वान करते हुए लोगों से कहा है कि वे अब पहली मई को 'बाल स्वास्थ्य दिवस' के रूप में मनाएं। इसका लक्ष्य यह है कि इस पूरे साल लोगों में बच्चों के स्वास्थ्य की रक्षा के प्रति जागरुकता पैदा की जाए। यह एक सबसे मूल्यवान लक्ष्य है। **इसके साथ ही अब मई-दिवस न ही हड़ताल-दिवस के रूप में जाना जाएगा और न ही कम्युनिसट दिवस के रूप में।''** (जोर लेखक का)

1929 का संकट

अनुभवों से कोई सीख न लेते हुए, विश्व-युद्ध के लगभग एक दशक बाद, प्रतिक्रियावादी ट्रेड यूनियन नेता, पूंजीवाद के अन्तर्गत स्थाई सम्पन्नता आने के भ्रम के बीज बो रहे थे। उनकी इस बात में कोई रुचि नहीं थी कि किस तरह हजारों-लाखों असंगठित मजदूरों को एक झण्डे तले लाया जाए और इस बात से अवगत कराया जाय कि पूंजीवाद भारी संकटों के बीच फंसने और इन संकटों का बोझ मजदूरों के ऊपर डालने वाला है। जब 1929 के अंत में आर्थिक ध्वंस आया, और ट्रस्टों एवं इजारेदारों ने इस संकट का सारा बोझ मजदूरों पर डालना चाहा तो मजदूरों के पास एक ही रास्ता बचा- हड़तालों और बेरोजगारों के जन-संघर्षों का रास्ता। इन संघर्षों के परिणामस्वरूप, जिनका नेतृत्व कम्युनिस्टों ने किया था, अमेरिकी मजदूर और अधिक भयंकर विपदाओं को रोकने और अपने जनतांत्रिक अधिकारों का दायरा बढ़ाने में सफल रहे। साथ ही, उन्होंने 1930 के दशक में, 'अमेरिकन फेडरेशन ऑफ लेबर' और सी.आई.ओ. दोनों में, अमेरिकी मजदूर वर्ग के इतिहास में ट्रेड यूनियन संगठन की महानतम प्रगति को दर्ज कराया। सी.आई.ओ. का 1935 में जन्म और विभिन्न उत्पादन उद्योगों के मजदूरों में तेजी से इसका विस्तार पूरे मजदूर आंदोलन और देश के लिए ऐतिहासिक महत्व की प्रमुख उपलब्धि था। अमेरिकी मजदूरों के इस उभार के नतीजन नीग्रो लोगों के बराबर हकों के लिए संघर्ष और अमेरिका में एक जनतांत्रिक मोर्चे को और मजबूत बनाने की स्थितियां बन गयीं।

साम्राज्यवादी युद्ध और क्रांति तथा एक अभूतपूर्व आर्थिक संकट के द्वारा झकझोर दिए जाने के बाद, केवल डेढ़ दशक के छोटे से कालक्रम में लगभग विश्व पूंजीवाद स्पष्टतः एक आम संकट के दौर में प्रवेश कर गया। साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा जिसने प्रथम विश्व युद्ध को जन्म दिया था, इस संकट के कारण और भी भयंकर होती गयी। विश्व के छठवें भाग पर पूंजीवाद के मिट्टी में मिल जाने, उपनिवेशों में स्वतंत्रता के लिए संघर्षों का दुर्दमनीय विकास और उन्नत पूंजीवादी देशों में अपने जीवन स्तर को उठाने तथा अपने जनतांत्रिक अधिकारों को बनाये रखने एवं विस्तारित करने के लिए लगातार फौलादी होते हुादों से पूंजीवाद का यह आम संकट बढ़ता ही गया। ट्रस्ट और इजारेदार आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अपनी पकड़ बचाए रखने की बदहवासी भरी कोशिशों में लग गए और इतिहास के अपरिहार्य विकास को रोकने के लिए फासीवाद की आतंकवादी तानाशाही की शरण में चले गए। फ्रांस, इंग्लैण्ड और अमेरिका के इजारेदारों ने फासीवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने के लिए वह सब कुछ किया जो उनके बूते में था। उन्होंने पराजित जर्मनी और उन सभी देशों में, जहां मजदूर वर्ग और प्रगतिशील ताकतों की कमजोरी और बिखराव ने फासीवादी विजय के लिए दरवाजे खोल दिए थे, फासीवाद को बढ़ावा दिया और अपनी थैलियां खोल दीं। इजारेदार पूंजी के इन सारे विश्वव्यापी प्रयासों ने न केवल जनतांत्रिक उपलब्धियों को, जो शताब्दियों के संघर्षों के बाद हासिल हुई थीं, नष्ट करने की कोशिश की, बल्कि एक नए विश्व-युद्ध का रास्ता भी साफ कर दिया।

फासीवाद के विरुद्ध युद्ध

1933 से 1939 के दौरान जर्मन फासीवाद ने पूरी दुनिया के प्रतिक्रियावादियों की भूमिका निभायी ऐंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद से प्रोत्साहन पाकर और पूरी दुनिया पर कब्जा जमाने के अपने साम्राज्यवादी मंसूबों के तहत जर्मन फासीवाद ने योजनाबद्ध ढंग से दूसरे विश्वयुद्ध की तैयारियां शुरू कर दी थी। यह वही ऐंग्लो-अमेरिकी साम्राज्यवाद था जिसका शुरू से एक लक्ष्य था समाजवाद के विनाश के लिए युद्ध, जिसके लिए अब वह नाजी जर्मनी को खड़ा करने में सहायता कर रहा था। दूसरी ओर जापानी साम्राज्यवाद भी अपने स्वार्थों के लिए इस कुकृत्य में शामिल हो गया। अपनी प्रकृति के अनुसार इस तरह का कोई भी युद्ध हर देश की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के खिलाफ खड़ा होता था। इन स्थितियों में लगातार यह बात साफ होती गयी थी कि, मानव जाति का विकास मजदूरों, किसानों और उपनिवेशों की दबाई और कुचली गयी जनता के हाथ में है। केवल वे ही कदम बढ़ा कर, पहल लेकर और अपनी एकता और प्रतिरोध के जरिए सभी देशों की जनतांत्रिक शक्तियों व तत्वों को अपने इर्द-गिर्द गोलबन्द कर सकते हैं और इजारेदार पूंजी द्वारा प्रेरित प्रतिक्रियावाद के बढ़ते अनर्थकारी विकास को रोक सकते थे। इसीलिए, तीस के पूरे दशक के दौरान मई-दिवस, फासीवाद हमले का प्रतिरोध करने और एक नए विश्व-विध्वंस का विरोध करने के लिए सभी जनतांत्रिक शक्तियों एवं जनता की एकता के आह्वान को लगातार गुंजायमान करता रहा।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने साफ तौर पर यह दिखला दिया कि मजदूर-वर्ग ही किसी राष्ट्र की वास्तविक रीढ़ की हड्डी है। फासीवाद शक्ति हथियाने और दुनिया को एक विनाशकारी युद्ध में झोंकने में इसलिए कामयाब हो सका क्योंकि मजदूर वर्ग असंगठित था लेकिन वह कहीं भी एकजुट और युद्धरत मजदूर वर्ग पर विजय हासिल न कर सका, जो हर जगह प्रगति और जनतंत्र की रक्षा का नेतृत्व कर रहा था और मानवजाति के जनतांत्रिक बहुमत को अपने इर्द-गिर्द गोलबंद कर रहा था ताकि फासीवादी दानव का सर कुचला जा सके। इस अनश्वर युद्ध में हर जगह के जनतांत्रिक लोगों ने अपनी आंखों से यह देखा कि ये सोवियत रूस और हर जगह के मजदूर थे जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता, जनतंत्र और प्रगति के लिए फासीवाद के विरुद्ध इस ऐतिहासिक महायुद्ध में अगली कतारों में थे।

इस युद्ध के दौरान हर जगह के मजदूरों ने काम पर रहकर और फासीवादी सेनाओं के ध्वंस के लिए हथियार बनाकर मई-दिवस मनाया। जब 1945 में युद्ध खत्म हुआ तो युद्ध के बाद के पहले मई-दिवस समारोहों में लाखों-लाख मजदूर उमड़ पड़े, खासकर यूरोप के विजेता और आजाद हुए देशों में। इन मजदूरों ने युद्ध को जारी रखने की और फासीवाद के सभी अवशेषों को जड़ से उखाड़ फेंकने की अपनी प्रतिबद्धता दर्शायी, ताकि हर-हमेशा के लिए पूंजी मजदूर वर्ग की जनता के अन्य प्रगतिशील तत्वों के साथ एकता कायम की जा सके, जो हमेशा के लिए इजारेदार पूंजी को इसके लिए अक्षम बना दे कि वह फिर से फासीवाद की छत्रछाया में जा सके और फासीवाद फिर अपना आदमखोर शासन कायम कर सके, ताकि जनतंत्र को जो जनता की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, स्थापित और विकसित किया जा सके, ताकि एक अनश्वर शांति का निर्माण किया जा सके और दमन-उत्पीड़न-शोषण से मुक्त समाजवादी विश्व के पथ पर अग्रसर हुआ जा सके।

हर देश का मजदूर वर्ग मई-दिवस के अवसर पर, मानव-जाति के खुशहाल भविष्य और शांति के लिए संघर्ष करते हुए, अंतर्राष्ट्रीय एकजुटता और मैत्री की भावना के साथ सारी दुनिया की जनता को सलाम करता है।

अनुवाद : **अभिनव सिन्हा**

कविता

अंधेरे के सभी लोगों के लिए सूर्य के फल हों!

मैं सोचता हूं जिन्होंने इतने सारे काम किये
उन सबका मालिक भी उन्हीं को होना चाहिए।
और जो रोटी पकाते हैं उन्हें वह खानी भी चाहिए!
और खदान में काम करने वालों को रोशनी चाहिए।
बहुत हो गया अब बेड़ी में बंधे मैले-कुचैले लोगो!
बहुत हो गया अब पीले पड़े मृतको!
कोई भी न रहे बगैर राज किये।
एक भी स्त्री न हो बगैर मुकुट के।
प्रत्येक हाथ के लिए सोने के दस्ताने हों।
अंधेरे के सभी लोगों के लिए सूर्य के फल हों।

– पाब्लो नेरुदा

माओ त्से-तुङ के विचार

"विचारधारात्मक शिक्षा वह मुख्य कड़ी है जिस पर महान राजनीतिक संघर्षों के लिए समूची पार्टी को एकताबद्ध करते समय मजबूत गिरफ्त रखनी चाहिए। जबतक यह नहीं किया जाता तबतक पार्टी अपना कोई भी राजनीतिक कार्य पूरा नहीं कर सकती।"

("मिली-जुली सरकार के बारे में", संकलित रचनाएं, ग्रंथ-तीन, अप्रैल, 1955)

"हर स्थान के जन-समुदाय में आमतौर पर तीन तरह के लोग होते हैं:अपेक्षाकृत सक्रिय लोग, दरमियाने लोग तथा अपेक्षाकृत पिछड़े हुए लोग। इसलिए नेताओं को चाहिए कि वे थोड़ी संख्या वाले सक्रिय तत्वों को नेतृत्व के चारो ओर एकताबद्ध करने में निपुण हो जायें तथा दरमियाने तत्वों के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए और पिछड़े हुए तत्वों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए सक्रिय तत्वों पर निर्भर रहें।"

("नेतृत्व के तरीकों से सम्बन्धित सवाल", संकलित रचनाएं, ग्रंथ-3, जून, 1943)

एयरपोर्ट मजदूर बुनियादी जरूरतों से भी वंचित हैं

(पेज 3 से जारी)

भी शुरू की है, जो एक शुभ लक्षण है।

व्यापक मजदूर एकता कायम करो और संघर्ष की धार समूची पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ केन्द्रित करो!

हवाई अड्डों पर कार्यरत ठेका मजदूर आज अपने संघर्ष के नये और ज्यादा कठिन दौर में पहुंच चुके हैं। ठेका कम्पनियों, व्यक्तिगत ठेकेदारों और प्राधिकरण के भ्रष्ट अधिकारियों के निर्मम शोषण के खिलाफ वर्षो से जूझ रहे मजदूरों के सामने निजीकरण की नयी चुनौती ने अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है। अब मजदूरों को अपने जीवन– मरण का सवाल बनाकर अपने नये संघर्ष की नयी रणनीति और रूपरेखा तय करनी होगी। अब तक के संघर्षों के अनुभव से सीखते हुए नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने संघर्ष की दिशा निर्धारित करते हुए कुछ बातों को गांठ बांध लेना होगा।

पहला, जिन श्रेणियों के मजदूर अब तक संगठित नहीं हैं, उन्हें जल्द से जल्द संगठित होना होगा और पहले से ही संगठित मजदूरों के साथ व्यापक और फौलादी एकता कायम करनी होगी। अलग-अलग श्रेणियों के मजदूर अपनी लड़ाई अकेले नहीं जीत सकते।

दूसरा, अपने नियमितीकरण, बेहतर सेवा शर्तों एवं कार्यदशाओं के साथ-साथ निजीकरण के खिलाफ अपने संघर्ष को समूची पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष दिशा में केन्द्रित करना होगा। उन्हें अपने ट्रेड यूनियन अधिकारों पर हर नये हमले का पुरजोर विरोध करना होगा और नये सिरे से जनतांत्रिक अधिकारों का दायरा बढ़ाने के लिए भी एकजुट संघर्ष में उतरना होगा। साथ ही उन्हें अपने संघर्ष को पूरे देश के पैमाने पर चलने वाले पूंजीवादी व्यवस्था विरोधी संघर्ष से व्यावहारिक रूप से जोड़ने की दिशा में भी आगे बढ़ना होगा।

(बिगुल टीम द्वारा प्रस्तुत)

नकली वामपंथियों की चुनावी राजनीति बनाम सर्वहारा क्रान्ति की राजनीति

संसदीय वामपंथी पार्टियां किसके प्रति वफादार हैं? मेहनतकश जनता के प्रति या व्यवस्था के प्रति?

(पेज 1 से जारी)

पैदा करने के लिए जहां अन्य दलों को कोस रहे थे, वहीं स्थिरता के लिए चिन्तित चुनावी वामपंथियों की प्रशंसा कर रहे थे। यह अनायास नहीं था कि कांग्रेस के अतिरिक्त सभी विपक्षी दलों को प्रधानमंत्री के रूप में ज्योति बसु स्वीकार्य थे और पूंजीपतियों को भी। पर माकपा का दुनियादार नेतृत्व चार दिनों की चांदनी से सन्तुष्ट नहीं था। इसके बजाय वह 'किंगमेकर' की भूमिका बेहतर मानता था, अतः स्थिरता के नाम पर उसने सोनिया गांधी की अगुवाई में अल्पमत कांग्रेसी सरकार का प्रस्ताव आगे बढ़ाया, जो सपा के अपने अस्तित्व के संकट के कारण परवान नहीं चढ़ सका।

इस पूरे घटनाक्रम के दौरान, पूंजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति के रूप में संशोधनवादियों की भूमिका इतनी बेशर्मी के साथ सामने आई कि कइ में लेटे **काउत्स्की, अल ब्राडडर, टीटो** और **ख्रुश्चोव** भी शर्म से पानी-पानी हो गये होंगे। पूंजीवादी व्यवस्था की पहली सुरक्षा पंक्ति (मुख्य बुर्जुआ पार्टियां) की हालत इस समय इतनी खराब और अस्थिर-अनिश्चित है कि दूसरी सुरक्षा पंक्ति की जिम्मेदारियां बढ़ गई हैं। अब यह बात दीगर है कि इस कोशिश में उनकी लाल पगड़ी ही नहीं, लंगोट भी उतर गई है।

संवैधानिक संकट से चिन्तित भाकपा और माकपा के संसदीय गुरुमा भाजपा गठबंधन सरकार के विश्वास प्रस्ताव के गिरने के बाद, उसके बजट को पारित कराने के लिए सबसे अधिक चिन्तित रहे। दो महीने तक संसद में चीख-चीखकर जिस बजट को वे मजदूर-विरोधी, किसान विरोधी और साम्राज्यवाद-पूंजीवाद समर्थक बताते रहे, उसे ही "राष्ट्रहित की हिफाजत" में पारित करने में इन नकली वामपंथियों ने अग्रणी भूमिका निभाई। यानी "राष्ट्रहित में" उन्होंने साम्राज्यवाद-पूंजीवाद समर्थक आर्थिक कदमों को स्वीकार किया। यह "राष्ट्रहित" शोषकों का हित है या आम जनता का?

मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था का हर संकट सर्वहारा वर्ग के हिरावल दस्तों के लिए क्रान्तिकारी तैयारियों के लिए अनुकूल अवसर मुहैया कराता है। पर "जन्मेदार कामरेड" सुरजीत, वर्धन, इन्द्रजीत गुप्त, सोमनाथ चटर्जी आदि तो व्यवस्था के संकट से खुश होने के बजाय हमेशा ही परेशान हो जाते हैं और संवैधानिक संकट से इसतरह दुखी-चिन्तित हो जाते हैं मानो पूंजीवादी संविधान ही इनका 'दास कैपिटल' हो। तब फिर भला इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि संसदीय परम्पराओं के निर्वाह के लिए पूंजीवादी मीडिया और भाड़े के कलमघसीट तथा विचारक इन चुनावी वामपंथी बात बहादुरों की प्रशंसा करते नहीं अघाते। पूंजीवाद को करती को डूबने से बचाने के लिए जो सबसे अधिक चिन्तित हैं, उन्हें तमगे और इनाम तो मिलेंगे ही।

लेनिन ने तो मार्क्सवादियों को यही शिक्षा दी थी कि पूंजीवादी संसद महज दिखाने के दांत है, बहसबाजी का अड्डा है, सुअरबाड़ा है। उन्होंने यह भी बताया था कि पूंजीवादी जनवाद के अन्तर्गत सरकार पूंजीपतियों की 'मैनेजिंग कमेटी' होती है। सर्वहारा वर्ग की पार्टी अनुकूल स्थिति में, व्यवस्था के भण्डाफोड़ के लिए, रणकौशल के तौर पर संसदीय चुनावों और बुर्जुआ संसद का इस्तेमाल भले ही करे, पर चुनाव में जीतकर सरकार बनाकर वह सर्वहारा राज्यसत्ता नहीं कायम कर सकती। सर्वहारा सत्ता केवल बलपूर्वक बुर्जुआ सत्ता को चकनाचूर करके ही कायम की जा सकती है। लेकिन भारतीय संशोधनवादी, जो कार्ल काउत्स्की और ख्रुश्चोव के "योग्य" वारिस हैं, संसद को ही अपना जंग-मैदान मानकर बस हवाई गोले छोड़ने का काम करते हैं और जब भी अहम नीतियों-सिद्धान्तों की बात आती है या पूंजीवादी व्यवस्था संकटग्रस्त होती है, तो ये अपनी वफादारी साफ कर देते हैं। मजदूरों को गुमराह करने के लिए जो नकली लाला झण्डा ये उड़ाते रहते हैं, उसे फट मोड़कर झोले में डाल लेते हैं और पूंजीवादी पार्टियों के नेताओं के साथ गलबहियां डाले सत्ता के गलियारों में आगे बढ़ जाते हैं।

दरअसल, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी अंतरराष्ट्रीय सर्वहारा आन्दोलन में ख्रुश्चोव के आविर्भाव से पहले ही, 1951 में तेलंगाना संघर्ष के पराजय के बाद से ही संशोधनवाद (यानी सारतत्व बुर्जुआ और ऊपरी खोल मार्क्सवादी) के रास्ते पर चल चुकी थी। बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों को तिलांजलि देकर नेतृत्व ने "कैडर-पार्टी" को चवन्निया मेंबरी वाली "जन-पार्टी" में बदल दिया था। रणकौशल (टैक्टिक्स) के बजाय बुर्जुआ चुनावी राजनीति को नीति और मार्ग के रूप में वरण कर लिया गया था। 1958 में अमृतसर की विशेष कांग्रेस में शान्तिपूर्ण संक्रमण के ख्रुश्चोवी सिद्धान्त को मान्यता दे दी गई थी। 1964 में संशोधनवादी नेतृत्व के आपसी झगड़ों से पड़ी फूट ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) को जन्म दिया, जिसने सच्चे व ईमानदार कार्यकर्ताओं को भरमाकर अपने साथ करने के लिए नकली जुझारू तेवर अपनाये, पर ऊपरी लाल चोले के भीतर यह भी नखशिख संशोधनवादी पार्टी थी। इसके कई साफ सबूत थे। **पहली बात,** इस पार्टी ने भी कैडर-आधारित और गुप्त पार्टी ढांचा के बोल्शेविक उसूलों को अपनाने के बजाय खुली, जन-पार्टी के संशोधनवादी, चुनावी स्वरूप और मेशेविक सांगठनिक उसूलों को अपनाया। **दूसरी बात,** इस पार्टी ने 1958 के अमृतसर कांग्रेस में पार्टी-संविधान की प्रस्तावना में ख्रुश्चोवी नकली कम्युनिज्म के सिद्धान्तों के हिसाब से किये गये बदलाव को रद्द करने की कोई कोशिश नहीं की। **तीसरी बात,** क्रान्तिकारी हिंसा के बारे में मार्क्सवादी स्थापना को साफ शब्दों में रखने और बुर्जुआ संसदीय चुनाव के इस्तेमाल को सिर्फ रणकौशल मानने की घोषणा करने के बजाय इस पार्टी ने अपने प्रोग्राम में "संसदीय और गैर संसदीय मार्ग" जैसे गोलमोल शब्दों का इस्तेमाल करके कार्यकर्ताओं और जन समुदाय को झांसा देने की कोशिश की। **चौथी बात,** ख्रुश्चोवी विश्वासघात के विरुद्ध चीनी पार्टी द्वारा जारी विचारधारात्मक संघर्ष में स्पष्ट पक्ष लेने के बजाय माकपा ने बीच-बीच की स्थिति अपनाई और बाद के के पंद्रह-बीस वर्षों में धीरे-धीरे खिसकर पूरी तरह ख्रुश्चोवी अवस्थितियों को खुले तौर पर अपना लिया। **पांचवी बात,** गत पैंतीस वर्षों के दौरान चुनाव लड़ने, राज्यों में सरकारें चलाने, बुर्जुआ संसद में भाग लेने और ट्रेड यूनियनों में भाज आर्थिक मांगों एवं रियायतों के लिए लड़ने के लम्बे रिकार्ड के द्वारा माकपा ने यह साफ कर दिया है कि वह भी एक घोर मजदूर विरोधी, संशोधनवादी पार्टी है, जिसका झण्डा सर्वहारा वर्ग के खून से रंगा पेरिस कम्यून और मई दिवस का लाल झण्डा नहीं है, बल्कि सर्वहारा वर्ग की भीख की फटी झोली से तैयार किया गया है।

यही मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी आज पूंजीवादी संसदीय व्यवस्था की हिफाजत के लिए सभी बुर्जुआ पार्टियों से भी अधिक चिन्तित है तथा मजदूर वर्ग को ठगने में इसने भाकपा को भी काफी पीछे छोड़ दिया है। दूसरी सभी चुनावी वामपंथी पार्टियां माकपा को संसदीय राजनीति का गुरुघंटाल मानकर उसी के पीछे-पीछे चल रही हैं।

"जन्मेदार कामरेड" जनाब हरकिशन सिंह सुरजीत आज पुरजोर अपीलें कर रहे हैं कि भाजपा की फासिस्ट हिन्दूवादी गठबंधन को अगले चुनाव में फैसलाकुन शिकस्त देने के लिए सभी चुनावी वामपंथियों, कांग्रेसियों और "तीसरी ताकत" कहलाने वाली व धर्मनिरपेक्षता की माला जपने वाली मध्यमार्गी बुर्जुआ पार्टियों को एक साथ हो जाना चाहिए। पिछले दिनों भाजपाई गठबंधन की सरकार गिरने के बाद सुरजीत ने सबसे अधिक मशक्कत इस बात के लिए की कि सभी विपक्षी दलों के सहयोग से सोनिया के नेतृत्व में सरकार गठित हो जाये। वह तो मुलायम सिंह की अने अस्तित्व की चिन्ता और क्षेत्रीय पूंजीवादी पार्टियों का असमंजस था कि ऐसा नहीं हो सका। लेकिन यह साफ हो गया कि सरमायेदार के बाद स्थिरता को लेकर यदि कोई सबसे अधिक चिन्तित है तो वे माकपा के सूरमा ही हैं।

भाजपा के हिन्दूवादी फासीवाद का मुकाबला करने के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सबसे पुरानी और वफादार पार्टी कांग्रेस को संनापतित्व सौंपते हुए सुरजीत जैसों को यह याद नहीं रहता कि कांग्रेस ने किसतरह पंजाब में सिख उग्रवाद को पनपाया था और फिर उसे दबाने के नाम पर आम सिखों पर कहर बरपा करते हुए उग्र हिन्दूवाद की कैसी लहर पैदा की थी। वे यह भी भूल जाते हैं कि कांग्रेस की "फौकी केसरिया लाइन" ने ही संघ परिवार की केसरिया लाइन के लिए जमीन तैयार की और बाबरी मस्जिद विवाद को फिर से जीवित करने का काम भी कांग्रेसी हुकूमत ने ही किया था। सुरजीत और उनकी चण्डाल-चौकड़ी यह भी भूल जाती है कि भाजपा यदि क्लासिकी साम्प्रदायिक फासिस्ट पार्टी है, तो व्यवस्था के गम्भीर संकट की स्थिति में, सीमित बुर्जुआ जनवाद की रामनामी चादर उतारकर फासीवादी बघनखों से लैस हो जाने से कांग्रेसियों को भी परहेज नहीं होगा। 1975 के आपातकालीन फासिस्ट कुशासन के काले दिनों को सुरजीत भले भूल जायें, भारत की जनता भले कैसे भूल सकती है? उस समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी "पश्चिम समर्थित फासीवाद" का विरोध करने के नाम पर इन्दिरा गांधी को उसी तरह समर्थन दे रही थी, जिसतरह आज फासीवादी भाजपा का विरोध करने के नाम पर आज सुरजीत कर रहे हैं।

भारत के इन संसदीय कम्युनिस्टों ने 1960, 1970 और 1980 के दशकों में भी कांग्रेस विरोधी गठबंधन के नाम पर विपक्षी बुर्जुआ पार्टियों के गंठजोड़ (जिनमें जनसंघी/भाजपाई फासिस्ट भी शामिल थे) को सत्ता में लाने के लिए मजदूरों का लामबंद किया था। आज फिर भाजपा विरोधी सरकार गठित करने के लिए भारत के चुनावी कम्युनिस्ट सर्वहारा वर्ग और आम जनता को यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि हिन्दूवादी के विरुद्ध, उनके पास कांग्रेस या तथाकथित "तीसरी शक्तियों" की गठबंधन सरकार को समर्थन देने के अतिरिक्त अन्य कोई भी विकल्प नहीं है।

ये कम्युनिस्ट नामधारी गद्दार इस सच्चाई पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं कि कांग्रेस और भाजपा तथा मध्यमार्गी बुर्जुआ पार्टियों की बुर्जुवादी आर्थिक नीतियां एक ही हैं। वे इस तथ्य पर भी पर्दा डालने की कोशिश करते हैं कि कांग्रेस के नेतृत्व में आर्थिक कट्टरपंथ की जो नीतियां लागू करने की शुरुआत हुई, उन्हीं के चलते देश की राजनीति में धार्मिक कट्टरपंथ का आधार व्यापक हुआ है। वे इस सच्चाई को भी छुपाने की कोशिश करते हैं कि भारत में आर्थिक-राजनीतिक संकट के गहराने की स्थिति में, सरकार चलाने वाली कोई भी बुर्जुआ पार्टी फासिस्ट तौर-तरीके अपना सकती है।

मार्क्सवाद की बुनियादी शिक्षा यह है कि फासिस्म को फैसलाकुन शिकस्त देने का काम केवल मजदूर वर्ग व्यापक जनता के सभी वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाकर और वर्ग-संघर्ष को तेज करके ही कर सकता है। इस प्रक्रिया में वह पौरो तौर पर फासिस्म विरोधी बुर्जुआ पार्टियों के साथ भी मोर्चा बना सकता है, पर मजदूर वर्ग को बुर्जुआओं का पिछलग्गू बनाकर और वर्ग-संघर्ष को एजेण्डे से हटाकर फासिस्म को शिकस्त कदापि नहीं दी जा सकती। इतिहास गवाह है कि सामाजिक जनवादी ताकतों ने अतीत में भी यो रणनीति अपनाकर फासिस्म के हाथों को एकतरह से मजबूत ही किया है और मेहनतकश जनता को गफलत और धोखे में रखने का काम किया है।

दरअसल भारत के चुनावी कम्युनिस्ट हर चन्द कोशिश करके मेहनतकश अवाम को इस सच्चाई से दूर करना चाहते हैं कि बुनियादी सवाल राज्यसत्ता का है। चुनाव में सरकारें बदलने से राज्यसत्ता एक वर्ग से दूसरे वर्ग के हाथों में नहीं आती। वह बलपूर्वक कब्जा की जाती है क्रान्ति के द्वारा।

भारतीय चुनावबाज वामपंथियों ने सशस्त्र क्रान्ति और सर्वहारा अधिनायकत्व के सवाल को छोड़ दिया है। ये बुर्जुआ वर्ग के लाल मुंहवा वाले चोबदार-चौकीदार बनकर रह गये हैं। इनके हित पूंजीपतियों के हित से जुड़े हैं, न कि मजदूर वर्ग व जनता के अन्य वर्गों के हित से। ये पूंजीवाद की वफादार दूसरी सुरक्षा पंक्ति है यह बात अब दिन के उजाले की तरह साफ हो चुकी है।

भारत में नई सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी का यह जरूरी कार्यभार है कि मजदूर वर्ग, अन्य मेहनतकश वर्गों और प्रगतिशील मध्य वर्ग के बीच से इन नकली वामपंथियों का आधार समाप्त कर दिया जाये और यह सिद्ध कर दिया जाये कि ये सरमायेदारों की गलियों में घूमने और टुकड़े लपकने वाले कुत्ते हैं।

भूमण्डलीकरण के दौर में लुटेरी, राक्षसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां

दुनिया के बाजार पर छाई हुई बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माध्यम से साम्राज्यवादी देश पूरी दुनिया की श्रम-शक्ति और अकूत प्राकृतिक सम्पदा को किस कदर निचोड़ रहे हैं, इसकी एक तस्वीर उपस्थित करने के लिए महज कुछ तथ्य और कुछ आंकड़े ही काफी होंगे।

दुनिया में इस समय कुल 37,000 बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं, जिनमें से नब्बे प्रतिशत विकसित देशों की—यानी अमेरिका, यूरोप और जापान की हैं। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर, निजी क्षेत्र के उत्पादन के सभी साधनों के एक तिहाई का मालिकाना इन्हीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों में है।

अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी 'जनरल मोटर्स' में कुल 7,50,000 मजदूर काम करते हैं और इसकी सालाना बिक्री 120 अरब डालर है। **जनरल मोटर्स** और **शेल**—इन दो कम्पनियों की सालाना बिक्री यदि मिला दी जाये तो वह **मेक्सिको** के सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी. एन.पी.) के बराबर होगी। जो कि तीसरी दुनिया के "सबसे धनी" देशों में से एक है। कम्प्यूटर बनाने वाली प्रसिद्ध अमेरिकी कम्पनी **आई.बी.एम.** की कुल सालाना बिक्री 69 अरब डालर की है। यह **लैटिन अमेरिका** और **अफ्रीका** के सभी देशों और **भारत** द्वारा निर्यात किये जाने वाले सभी 'मैन्यूफैक्चर्ड' मालों की कुल कीमत से भी अधिक है। पियाजियो की, जो दुनिया भर की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में 90वें स्थान पर है, सालाना बिक्री 30 अरब डालर है, जो **मोरक्को** के सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) से भी अधिक है। ढाई-करोड़ आबादी वाले देश तंजानिया का सकल घरेलू उत्पाद 2 अरब 10 करोड़ डालर है जो **कोका-कोला** या **टोयोटा** के मुनाफे के बराबर है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियां में काम करने वाले लाखों लोगों की गतिविधियों को इस प्रकार नियोजित किया जाता है कि एक सेकेण्ड का भी नुकसान न हो। यूं तो इस सदी के प्रारम्भ से ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियां साम्राज्यवादी देशों के विश्व विजयी अश्वमेध के घोड़ों का काम कर रही हैं, जिनका ब्यौरा **लेनिन** ने (तथा **हॉबसन** और **हिल्फर्डिंग** ने भी) साम्राज्यवाद विषयक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में दिया है। लेकिन भूमण्डलीकरण के वर्तमान दौर में, ये कम्पनियां हर तरह के स्थानीय उत्पादन को खत्म करते हुए, या उसे अपने मातहत करते हुए, तीसरी दुनिया के बाजारों पर पूर्ण विजय हासिल करना चाहती हैं। तथाकथित कल्याणकारी राज्य के ढांचे को ध्वस्त करके तथा पब्लिक सेक्टर के राजकीय पूंजीवादी ढांचे को तोड़कर मजदूरों से अतिलाभ निचोड़ने के लिए, तीसरी दुनिया के देशों में विश्व बैंक-मुद्रा कोष-अन्तरराष्ट्रीय व्यापार संगठन की तिकड़ी के निर्देश पर तथाकथित ढांचागत समायोजन के नुस्खे लागू किये जा रहे हैं। विदेशी पूंजी के लिए भारत जैसे देशों ने अर्थव्यवस्था के दरवाजे खोल दिये हैं और आधुनिक मशीनों के जरिये कम से कम मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा निचोड़ने के लिए भारी मेहनतकश आबादी को नौकरी से बाहर धकेल दिया जा रहा है। बेकार हो चुके श्रमिक दिहाड़ी और ठेके पर काम करके, मिट्टी के मोल श्रम-शक्ति बेचकर, या तो मुश्किल से दो जून की रोटी जुटाते हैं, या फिर उनके परिवार भूखमरी के शिकार होते हैं। कृषि पर भी इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पकड़ खाद, बीज, कीटनाशक, कृषि मशीनरी आदि बेचकर मजबूत होती जा रही है और अब देशी पूंजीपतियों की पार्टनरशिप में ये बिजली-पानी के बाजार पर भी क़ाबिज होने की फिराक में हैं। जीवनोपयोगी दवाओं से लेकर हर तरह की सामाजिक सेवा तक को बाजार की माल बनाया जा रहा है और इस बाजार में बड़े शार्कों की भूमिका में बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही दिखलाई दे रही हैं।

अपने हितों की पूर्ति के लिए अतीत में भी ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां तीसरी दुनिया के देशों में कई बार तख्तापलट का खूनी खेल तक रच चुकी हैं। यह इतिहास का जगजाहिर तथ्य है। **नाइजीरिया** में **केन सारो वीवा** को फांसी दिलाने में **शेल** कम्पनी की भूमिका और **भोपाल गैस त्रासदी** में **यूनियन काबाइड** की भूमिका से भला कौन परिचित नहीं है। यही नहीं, लातिन अमेरिका और अफ्रीका के कई देशों में प्राकृतिक सम्पदा को लूटते हुए इन कम्पनियों ने ऐसी पर्यावरणीय तबाही मचाई है, जिसकी भरपाई शताब्दयों के प्रयासों के बाद ही हो सकती है।

अपने मुनाफे को लगातार बढ़ाने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियां न केवल तीसरी दुनिया के, बल्कि विकसित देशों के श्रमिकों और बेरोजगारों को भी तबाह करने से बाज नहीं आतीं। अमेरिका में नई तकनोलाजी और श्रम-नियोजन के नये ढांचे ने निजी क्षेत्र की 9 करोड़ नौकरियों में से ढाई करोड़ का खात्मा कर दिया है। यूरोप में 17 औद्योगिक सेक्टरों के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप इस सदी के अंत तक श्रम शक्ति में साढ़े बारह फीसदी की और कमी आ जायेगी। विगत पांच वर्षों के दौरान यूरोप में कुल 16.4 करोड़ डालर का विजीकरण हुआ है। पूंजीवादी राज्य आर्थिक हस्तक्षेप के साधनों का परित्याग कर रहे हैं। आर्थिक जनतंत्र का मिथक ध्वस्त हो रहा है। सब कुछ बाजार की शक्तियों के हवाले करने के नाम पर आर्थिक-सामाजिक जीवन के हर पहलू को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले किया जा रहा है।

यह कहना अतिश्योक्ति नहीं है कि पूंजीवाद आज एक विश्वव्यापी नरसंहार की व्यवस्था का रूप ले चुका है, जिसकी मुख्य एजेण्ट बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हैं। सिर्फ पश्चिमी दुनिया में आज तीन करोड़ साठ लाख लोग बेरोजगार हैं। इसकी तुलना सिर्फ 1929-32 के महामंदी के दौर की बेरोजगारी से की जा सकती है। भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक देशों, पूर्वी यूरोपीय देशों और चीन वियतनाम सहित तीसरी दुनिया के देशों की स्थिति तो पश्चिमी विश्व से कई गुना बदतर है। भुखमरी, अर्द्ध भुखमरी, आत्महत्या, मानसिक रोग और सामाजिक अपराध की दरें इस सदी के अंत में नई ऊंचाइयां पर जा पहुंची हैं। पिछले बीस वर्षों के दौरान, आर्थिक 'रिकवरी' के दौरों में भी बेरोजगारी की दरों में कोई महत्वपूर्ण कमी नहीं आई है।

इस तबाही के खिलाफ विद्रोह की आग कभी भी दावानल बनकर पूंजीवादी जंगल राज पर कहर बरपा कर सकती है। यह आशंका तमाम पूंजीवादी विचारक भी प्रकट कर रहे हैं। दुनिया के अलग-अलग कोनों से उठ रहे जन आन्दोलन और जनउभार इसी का पूर्व संकेत मात्र दे रहे हैं। पर पूंजीवादी विचारक या राज्य पूंजीपतियों को यह सुझाव मानने के लिए राजी नहीं कर सकते कि वे अतिलाभ के लिए होड़ करते हुए अति उत्पादन, मंदी और बेरोजगारी न पैदा करें। पूंजीपति मुनाफा बढ़ाते जाने के लिए कुछ भी करेगा। उसका यही काम है। यही जीवन धर्म है। वह बदल नहीं सकता। सिर्फ सर्वहारा क्रान्तियों द्वारा तख्ता किया जा सकता है।

● नमिता श्रीवास्तव

कुछ जरूरी नतीजे कुछ कीमती सबक

(पेज 1 से जारी)

हमले हुए, 24 मजदूरों को धारा 307 जैसे खतरनाक मुकदमों में फंसाया गया और 'आनन्द निशिकावा श्रमिक संगठन' के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष सहित 10 मजदूरों को लगभग दो माह तक जेल की सलाखों में रखा गया। मजदूरों ने धरना-क्रमिक अनशन से आमरण अनशन तक की राह पकड़ी तो प्रशासनिक उत्पीड़न और बढ़ गया। आधी रात में पुलिस फोर्स द्वारा अनशनकारी मजदूर साथियों सहित धरना स्थल पर मौजूद सभी सामान जबरिया उठा लिये गये और अनशनकारियों पर आत्महाद का मुकदमा दौंक दिया गया। इस प्रकार मजदूर लगातार दमन का कोपभाजन होते रहे।

तराई का औद्योगिक इतिहास: जब देश का मजदूर आंदोलन ठहराव ग्रस्त था; तराई में मजदूर आबादी इकट्ठा हो रही थी!

आनन्द निशिकावा और तराई क्षेत्र के रामाविजन, संचुरी पल्प एंड पेपर, खटीमा फाइबर्स सहित तमाम मालिकों में विगत दिनों चले आंदोलनों का सबक निकालने के लिए इस क्षेत्र के औद्योगिक विकास और मजदूर आंदोलन पर भी एक निगाह डालना जरूरी है, ताकि समस्याओं-चुनौतियों से रू-ब-रू हुआ जा सके।

नैनीताल की तराई इस देश का नया औद्योगिक क्षेत्र है। यहां फार्म हाउसों से लेकर छोटे-बड़े उद्योगों तक में पूर्वी उत्तर प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पहाड़ से आयी भारी मजदूर आबादी काम करती है। जिस वक्त यहां का औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो रहा था, पूरे देश का मजदूर आंदोलन पतन की स्थिति में था। देश का ट्रेड यूनियन आंदोलन वेतन, बोनस, भत्ते की लड़ाई लड़ते-लड़ते अर्थवाद के दलदल में फंस चुका था। संशोधनवादी वामपंथी पार्टियों सहित तमाम चुनावी पार्टियों से जुड़े ट्रेडयूनियनों का चरित्र नग्न होकर सामने आ चुका था। जब पूरे देश में मजदूर आंदोलन ठहराव-गतिरोध का शिकार था तो तराई में मजदूर आबादी इकट्ठा हो रही थी—मालिकों के दमन के खिलाफ जाग रही थी।

तराई क्षेत्र का ट्रेड यूनियन आंदोलन अपने जन्मकाल से ही कमजोर अवस्था में था। यहां बड़े उद्योगों की जगह ज्यादातर आधुनिक तकनीक वाली छोटी-छोटी औद्योगिक इकाईयां ही गठित हुईं और ठेके पर काम की प्रथा विकसित हुई, जिससे मालिकों द्वारा दमन ज्यादा आसान था। यहां की मजदूर आबादी लम्बे-जुझारू क्रान्तिकारी संघर्षों से लगभग अपरिचित ही रही। परिमाणतः: तमाम कारखानों में या तो नाम मात्र की यूनियने बनीं, या फिर मालिकों ने यूनियने बनने ही नहीं दीं। इस दौरान जिन कारखाने की यूनियन एटक, सीटू, इंटक जैसे मठाधीश यूनियनों से सम्बद्ध हुईं वहां कमजोर अथवा घटिया नेतृत्व पैदा हुआ। जहां पर मजदूरों ने स्वतःस्फूर्त ढंग से प्रेरित होकर यूनियने गठित भी कीं वहां का नेतृत्व राजनीतिक रूप से अपरिपक्व रहा और उनके भीतर से छुटभैय्या नेता पैदा हो गये। जहां मालिकों से बात मनवाने के लिए कुछ चुनावी नेताओं और स्थानीय माफिया तत्वों ने हस्तक्षेप किया वहां यूनियनों पर दलाल नेताओं का कब्जा हो गया। कुल मिलाकर तराई क्षेत्र में मालिकों के पक्ष में पलड़ा भारी रहा। उधर शासन-प्रशासन खुले और नग्न रूप में मालिकों के पक्ष में मुस्तैदी से खड़ा रहा। क्षेत्र में माफियातुमा फार्मरों और माफिया उद्योगपतियों का दबदबा बन गया। मजदूरों को लूटने-चूसने के लिए कृतसंकल्प क्षेत्र के पूंजीपतियों ने अपनी वर्गीय एकजुटता कायम करते हुए अपने संगठन तक खड़ा कर डाले।

दूसरी तरफ, देश के अन्य हिस्से के मजदूरों की भांति, भूमण्डलीयकरण के दौर में लागू मजदूर विरोधी नयी आर्थिक नीतियों का भी कोपभाजन तराई के मजदूरों को बनना पड़ा है। यही वे कारण हैं कि मालिक वर्ग की आक्रामकता लगातार बढ़ती गयी है। पिछले सात-आठ वर्षों के दौरान इस क्षेत्र के कारखानों में चली ज्यादातर आन्दोलन या तो पराजित हुई हैं अथवा छोटी-मोटी जीतें ही हासिल कर सकी हैं। कुछ कारखानों में मजदूरों ने अपनी संग्रामी एकजुटता की बदौलत कुछ सीमित आर्थिक अधिकार जरूर प्राप्त किये हैं, लेकिन वहां भी जनवादी अधिकारों की बहाली नहीं हो सकी है। ऐसे में भी 'आनन्द निशिकावा लि.' के मजदूर आंदोलन की यह परिणति लाजिमी थी।

निरंकुश और जालिम मालिकों के बढ़ते दमन का मुकाबला परिपक्व नेतृत्व की सुचिन्तित रणनीति और इलाकाई पैमाने की जुझारू मजदूर एकता से ही संभव!

इस पृष्ठभूमि में जो बात उभरकर सामने आती है वह यह कि जहां एक तरफ निरंकुश और जालिम तराई के कारखानेदारों का लूट और दमन अपने जन्मकाल से ही बढ़ता गया है, वहीं मजदूर आबादी की चेतना का आजकौतिकरण हुआ है। इधर तमाम कारखानों के मजदूर इलाके के अन्ये कारखाने से कटते चले गये। इसलिए इन जालिम मालिकों के खिलाफ एक नया क्रान्तिकारी नेतृत्व विकसित करने के साथ ही साथ मजदूरों की क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना बढ़ाने, उनकी पहलकदमी-एकजुटता कायम करने के साथ ही यदि इलाकाई पैमाने पर अलग-अलग कारखानों के मजदूरों के बीच एक वर्गीय एकजुटता का भाव नहीं पैदा किया जाएगा तो दूर-दूर बिखरे हुए कारखानों का मजदूर आन्दोलन मालिक-प्रशासन, पुलिस-गुण्डों, घुसपैठिये चुनावी गिद्धों और बिक जाने वाले दलालों के सहारे तोड़ा और कुचला जाता रहेगा।

अतीत के आंदोलन से लेकर अब तक के आंदोलनों से एक बार फिर यही साबित हुआ है कि **सभी पूंजीपति मजदूरों को कुचलने के लिए एकजुट हैं और प्रशासन मुस्तैदी से उनकी सेवा में खड़ा है। इसलिए मजदूर भी बड़े पैमाने पर एकजुटता कायम करके और एक बफादार क्रान्तिकारी नेतृत्व गठित करके ही उनका मुकाबला कर सकता है। इसके लिए व्यापक और घनीभूत क्रान्तिकारी विचारधात्मक शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता है। इसमें 'बिगुल' जैसा क्रान्तिकारी-राजनीतिक अखबार सर्वाधिक कारगर भूमिका निभा सकता है।**

...मुख्य ताकत तो मजदूरों की संगठित शक्ति ही है!

'आनन्द निशिकावा' से लेकर 'रामाविजन' आदि कारखानों के आंदोलनों का एक सबक यह भी है कि अपने देश के पूंजीवादी जनवाद ने मजदूरों के तमाम संघर्षों के दबाव में उनको जो जनवादी अधिकार दिये हैं (हालांकि उन्हें भी अब छीना जा रहा है और नये मजदूर विरोधी श्रम कानून बनाये जा रहे हैं) का लाभ उठाकर कानूनी संघर्ष भी जरूर किया जाना चाहिए पर अदालतों और श्रम विभाग के बजाए मुख्य भरोसा **अपनी संगठित शक्ति पर; अपने आन्दोलनों और हड़तालों पर ही करना चाहिए, क्योंकि लुटेरे महज भय और दबाव की भाषा समझते हैं।** साथ ही, इन कानूनी लड़ाइयों से पूंजीवादी जनवाद की झीनी चादर को भी बेनकाब करते रहना होगा और इसका बार-बार खुलासा करना होगा कि कानूनी दायरे में लड़कर कोई महत्वपूर्ण जीत हासिल हो नहीं की जा सकती। वैसे भी कानूनी दायरे की लड़ाई एक तरह का सुधारवाद है, जो मजदूरों को दयनीय, मरियल, दब्बू और भिखमंगा बना देता है और उनके लड़ाकूपन को भी कमजोर बनाता है।

मजदूर अंदोलन का क्रान्तिकारीकरण करना होगा!

यह सबसे अहम मुद्दा है कि मजदूर आन्दोलन में क्रान्तिकारी धार पैदा की जाए। इसके लिए मजदूर आबादी को अपने जंग लगे भोथरे हथियारों को क्रान्तिकारी विचारों की सान पर तेज करना होगा— अपने को मुक्तिकामी क्रान्तिकारी विचारधारा से लैस करना होगा। इसके साथ ही ट्रेड यूनियन नौकरशाही **को समाप्त करके यूनियनों का सच्चा जनतांत्रीकरण करना होगा अर्थात ट्रेड यूनियन आंदोलन में जनवादी तौर तरीकों** का पालन किया जाना चाहिए। कुल मिलाकर हमें मजदूर आंदोलन का क्रान्तिकारीकरण करना होगा।

एक-एक कारखाने की लड़ाई को पूरे पूंजीवादी निजाम के खिलाफ लड़ाई का हिस्सा बनाना होगा!

मजदूर साथियों को इस बात को भी नहीं भूलना होगा कि उनकी वास्तविक मुक्ति तो पूरे पूंजीवादी निजाम के खात्मे के साथ ही संभव है। इस परिप्रेक्ष्य के अभाव में लड़ाई कहीं न कहीं रुकेगी जरूर। इसलिए अपनी **आर्थिक मांगों और कारखाने स्तर की अन्य लड़ाइयों के साथ ही अपनी तमाम राजनीतिक-जनवादी अधिकारों के लिए लड़कर ही वे अपनी व्यापक लड़ाई को मजबूत बना सकते हैं। उनकी हर छोटी—छोटी लड़ाई अपने आप में स्वतंत्र या मुकम्मिल नहीं; बल्कि पूरे पूंजीपति वर्ग के खिलाफ उनकी बड़ी लड़ाई की ही एक कड़ी है। उन्हें यह बात भी याद रखना होगा कि ट्रेड यूनियने क्रान्ति और समाजवाद की बुनियादी पाठशाला हैं और हड़तालों से मजदूरों की पूजीवाद—विरोधी आम बगावत की शिक्षा—दीक्षा की शुरुआत होती है।** इसके लिए **मजदूरों को क्रान्तिकारी शिक्षा का, उनके बीच क्रान्तिकारी प्रचार का काम लगातार, घनीभूत रूप में चलाया जाना चाहिए, ताकि मुट्ठीभर लोग यूनियनों को मनमाने ढंग से चलाकर अपना उल्लू सीधा न कर सकें।** इसके लिए भी एक क्रान्तिकारी मजदूर अखबार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

आनन्द निशिकावा के मजदूर आन्दोलन की समाप्ति पर कारखाने के लड़ाकू मजदूर साथियों को न तो हिम्मत हारनी चाहिए और न ही निराशा के आगोश में समा जाना चाहिए। उन्हें साहस के साथ डटकर परिस्थितियों से जूझने के लिए तैयार रहना होगा, अपने हौसले बुलन्द रखने होंगे। हर आन्दोलन उस कारखाने के मजदूरों को तो शिक्षित करता ही है, पूरे मजदूर आबादी को भी शिक्षित करता है।

तराई में चले अतीत के आन्दोलनों को रौशनी में निकले इन आवश्यक सबकों पर मजदूर साथियों को गम्भीरता और गहराई के साथ सोचना होगा और नये संघर्षों की तैयारियों में लग जाना होगा! तराई क्षेत्र के लाखों— लाख मजदूरों पर आज मुट्ठी भर ज़ालिम सरमायेदारों का जो कहर बरपा हो रहा है, उसे तिनके की तरह फूंककर उड़ाया जा सकता है, बशर्ते कि मजदूर वर्ग एकजुट हो जाये और एक क्रान्तिकारी दिशा से लैस, इलाकाई पैमाने का मजदूर आन्दोलन खड़ा करने में लग जाये।

स्वत्वाधिकारी डा. दूधानाथ द्वारा 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा यानी ग्राफिक्स, अलीगंज, लखनऊ से मुद्रित। कम्पोजिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ।
सम्पादक : डा. दूधानाथ। सम्पादकीय पता : द्वारा ओ०पी० सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पैपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006. सम्पादकीय उपकार्यालय : जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर, मऊ।